वैदिक उपासना

लेखक

डॉ० कर्म सिंह आर्य

शास्त्री, दर्शनाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी.

अमर प्रकाशन

सदर बाजार, मथुरा (उ० प्र०)

प्रकाशक : अमर प्रकाशन
सदर बाजार, मथुरा (उ. प्र.)
मूल्य : 100/-
प्रथम संस्करण : 2000 –

VEDIC UPASANA By **Dr. *KARAM SI***

समर्पण

जीवनसंगिनी

श्रीमती मीना

एवं

आत्मजा

दीपा

को

सादर

समर्पित।

प्राक्कथन

स्वामी सुमेधानंद सरस्वती
अध्यक्ष एवं संचालक
दयानंद मठ चम्बा, हि॰ प्र॰

सृष्टि के आदि में परमपिता परमात्मा ने समस्त प्राणियों एवं मनुष्य के कल्याण के लिए 'वेद' का पवित्र ज्ञान दिया। वैदिक काल में ऋषि-मुनियों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को जीवन का आधार बनाकर वैदिक ज्ञान-विज्ञान कर्म, और उपासना का मार्ग प्रशस्त करके शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति एवं विकास का पथ प्रशस्त किया। अतः आर्यावर्त विश्वगुरू कहलाया और धर्म, संस्कृति, राजनीति का प्रमुख केन्द्र रहा। भारतीय सम्राटों ने समूचे विश्व में चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित किया। परन्तु महाभारत के विनाशकारी युद्ध के पश्चात् वैदिक संस्कृति, धर्म एवं दर्शन का पतन प्रारम्भ हुआ जो कालान्तर में विभिन्न संस्कृतियों एवं साम्प्रदायिक विचारधाराओं से आक्रान्त होता चला गया। फलत. भारत पराधीनता की जंजीरों में जकड़ गया।

उन्नीसवीं शती में विश्वगुरू महामानव वेदोद्धारक, समाज-सुधारक, वैदिक संस्कृति के अनन्य उपासक, महान् दार्शनिक, एकेश्वरवाद के प्रबलतम समर्थक महर्षि दयानंद ने पुनः विश्व को वैदिक संदेश दिया और कहा—"सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उनका आदिमूल परमेश्वर है" अतः वही निराकार, अजन्मा, सर्वव्यापक, सच्चिदानंद स्वरूपं ईश्वर ही उपासना करने योग्य है। उसी की उपासना से मनुष्य 'मोक्ष' को प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है। महर्षि दयानंद ने इंश्वर, जीव, प्रकृति का सूक्ष्मतम एवं वैज्ञानिक विश्लेषण अपने साहित्य, शास्त्रार्थों ओर प्रवचनों में किया है जिसके आधार पर 'वैदिक उपासना' नामक इस पुस्तक में उपास्य ईश्वर, उपासक जीवात्मा, भोग्या प्रकृति और उपासना के विभिन्न साधनों तथा अष्टांग योग का प्रामाणिक वर्णन किया गया है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित **'वैदिक उपासना'** मनुष्य मात्र को परमपिता परमात्मा का साक्षात्कार कराने के लिए सरलतम मार्ग है जिसे अपनाकर प्रत्येक मानव शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति को प्राप्त करके मोक्ष का अधिकारी बनकर सदा आनंदित रहता है। योगाभ्यास की वैदिक पद्धति ही मनुष्य को उसके चरम लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति कराने में सक्षम है।

दो शब्द

डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
धर्म समाज कालेज, अलीगढ

"इह चेदवेदीत् सत्यमस्ति न चेदवेदीन्महती विनष्टिः इस मानव चोले को पाकर यदि ईश्वर को प्राप्त कर लिया तो जीवन सार्थक है और यदि नहीं तो महान विनाश है।" उपनिषद् के इस वाक्य में मनुष्य जीवन का लक्ष्य स्पष्ट होता है। परन्तु मनुष्य इस मानव चोले को पाकर इसका सदुपयोग कम और दुरूपयोग अधिक करता है। जब तक उसमें बल, पराक्रम होता है तब तक वह विषय वासनाओं में लिप्त रहता है और जीवन के अंतिम पड़ाव में जब मनुष्य आत्म-विश्लेषण करता है तब उसे समझ आता है कि उसने जीवन में सब कुछ खोया है, पाया कुछ भी नहीं।

वास्तव में अपार धन-सम्पत्ति का मालिक होने के बाद भी मनुष्य भटकता रहता है—शांति के लिए, सुख के लिए। इसका अभिप्राय यह है कि आनंद भोग में नहीं, त्याग में है। और जो अपना सर्वस्व त्याग कर योगी बन जाता है वही ईश्वर का दर्शन पाकर जीवन सफल बना लेता है, अन्यों का जीवन तो केवल केवल भोग और रोग के लिए होता है। महर्षि दयानंद सरस्वती ने वेदों के आधार पर एक ईश्वर को उपास्य मानकर योगाभ्यास द्वारा मुक्ति को प्राप्त करने का सिद्धांत प्रस्तुत करके वैदिक उपासना पद्धति एव योग की प्राचीन रीति की पुनः स्थापना की है। उन्होंने गृहत्याग के पश्चात् कई वर्षो तक हिमालय की कंदराओं में योगसाधना करके अनेक सिद्धिया प्राप्त कीं। प्रतिदिन कई घंटों तक समाधि लगाना उनकी दिनचर्या का एक प्रमुख अग था। उन्होंने योगाभ्यास के लिए पातंजल योग-पद्धति को प्रामाणिक मानकर हठयोग की प्रक्रियाओं का खण्डन किया है। महर्षि दयानंद ने सत्यार्थप्रकाश ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, आर्याभिविनय, स्वमंतव्यामंतव्य-प्रकाश, शास्त्रार्थो, प्रवचनो मे योगदर्शन के सूत्रों को उद्धृत करके अपने अनुभव के आधार पर उनकी व्याख्या की है। उन्हीं योग-विषयक सदर्भों के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक की रचना की गई है। महर्षि दयानन्द के मूल मंतव्यों की प्रस्तुति इस पुस्तक की विशेषता है जिससे साधक योग-साधना विषयक ज्ञान तथा महर्षि दयानन्द का मार्गदर्शन प्राप्त कर सकेंगे।

आमुख

वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। महर्षि दयानन्द की मान्यता है—"सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उनका आदि मूल परमेश्वर है।" क्योंकि वेद ईश्वरप्रोक्त, अपौरुषेय अर्थात् ईश्वर की रचना हैं अतः योग आदि समस्त विद्याओं का आदिमूल भी वेद ही हैं। वेदों में ऐसी अनेक ऋचाएं हैं जिनमें परमात्मा, आत्मा और प्रकृति का सूक्ष्म वर्णन है। वेदों के आधार पर कालान्तर में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद-साहित्य तथा दर्शन-शास्त्रों में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्त्वों का विभिन्न सन्दर्भों में उल्लेख प्राप्त होता है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त इन छहों आस्तिक दर्शनों में इन तीनों आदि तत्त्वों का वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वर्णन हुआ है। षडदर्शनों में योग दर्शन मुख्यतया आत्मा का परमात्मा के साथ साक्षात्कार करके मोक्ष को प्राप्त करने के साधनों का विवेचन है। आत्मा द्वारा परमात्मा की उपासना, चित्त की वृत्तियों का निरोध तथा उसके योग के अंगों का विश्लेषण योगदर्शन का मुख्य विषय है।

वैदिक काल से अब तक योगविद्या भारत में प्रचलित रही है और यहीं से विश्व के अन्य स्थानों पर योग विद्या का प्रचार-प्रसार हुआ है। वैदिक ऋषियों ने कई वर्षों तक योगसाधना द्वारा तप करके अनेक सूक्ष्म अनुभूतियों द्वारा ब्रह्मानंद का साक्षात्कार किया। कालिदास द्वारा रघुवंश महाकाव्य में वर्णित 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' के अनुसार महाराजा दशरथ के शासनकाल में भी लोग योग से स्वेच्छापूर्वक शरीर का त्याग करके मुक्ति को प्राप्त करते थे। योगाभ्यास द्वारा अनेकों सिद्धियां प्राप्त करने की कथाएं भारतीय लोक परम्परा और साहित्य में उपलब्ध हैं।

आधुनिक काल में आदि गुरु शंकराचार्य द्वारा राजा के मृत शरीर में अपनी आत्मा का प्रवेश कराना महर्षि दयानन्द द्वारा अनागत तथ्यों का पहले ही प्रकट किया जाना इत्यादि ऐसे सन्दर्भ हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि पातंजल योगदर्शन में वर्णित विभूतियों को कठिन साधना के द्वारा प्राप्त करके मनोवांछित फल प्राप्त किया जा सकता है।

महर्षि दयानन्द के सम्बन्ध में भी प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा ऐसे प्रसंग वर्णित किए गए

हैं कि "महर्षि दयानंद समाधि अवस्था में भूमि से कई फुट ऊपर उड़ जाते थे।" महर्षि दयानंद ने आत्मचरित्र में स्वयं भी ब्रह्मानंद को त्यागकर समाज सेवा के कार्य को अपनाने की बात कही है। इससे यह प्रमाणित होता है कि महर्षि दयानंद सिद्ध योगी थे। अतः उन्होंने अपने साहित्य में विभिन्न प्रसंगों में पातंजल योगदर्शन के सूत्रों को उद्धृत किया है तो कहीं योगसूत्रों पर अपनी मौलिक व्याख्या की है। विभिन्न सिद्धियों का विवेचन उन्होंने शास्त्रीय प्रमाणों तथा अपने अनुभवों के आधार पर किया है।

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका अपने प्रवचनों तथा शास्त्रार्थों के अनेक प्रसंगों में महर्षि पतञ्जलि विरचित योगदर्शन के सूत्रों के आधार पर आत्मा द्वारा परमात्मा की वैदिक उपासना-पद्धति का प्रामाणिक विवेचन किया है जिससे सर्वशक्तिमान् एवं निराकार ईश्वर की उपासना से मनुष्य अनेक सिद्धियों को प्राप्त करके मुक्तावस्था में आनन्द प्राप्त करता है।

प्रस्तुत पुस्तक में वैदिक साहित्य में ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप का विवेचन कर योगदर्शन का सामान्य परिचय, महर्षि दयानन्द और योगदर्शन तथा उनके साहित्य में योगदर्शन विषयक सन्दर्भ तथा अष्टांग योग का उल्लेख है। योगसूत्रों की व्याख्याओं को महर्षि दयानन्द के शब्दों में प्रस्तुत करके प्रतिपाद्य विषय की प्रामाणिकता का पूरा ध्यान रखा गया है जिससे सामान्य व्यक्ति भी ईश्वर की उपासना वैदिक योग पद्धति के द्वारा कर सके। आशा है, मेरी अन्य रचनाओं की तरह यह प्रयास भी विद्वानों और पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

विदुषामनुचरः
कर्मसिंह

अनुक्रम

पंचम अध्याय — अष्टांग योग

योग के आठ अंग, यम, नियम, आसन, प्राणाया
धारणा, ध्यान, समाधि, पंचक्लेश, अविद्या, अस्मित
अभिनिवेश, कैवल्य।

प्रथम अध्याय

वैदिक साहित्य मे ईश्वर, जीव और प्रकृति

वेद में ईश्वर

वेदों में वर्णित ईश्वर तत्व के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने ऋग्वेदादि मे बहुदेवतावाद को माना है। मैक्समूलर ने वैदिक देवतावाद के स्थान पर "कैथेनोथियिज्म' अर्थात् एक देवता के बाद दूसरे की उपासना अथवा "हीनोथियिज्म" अर्थात् पृथक् दवताओं की पूजा का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। कतिपय भारतीय विद्वानों की भी यही मान्यता है कि वैदिक देवतावाद, बहुदेवतावाद की ओर उन्मुख था जो कालान्तर मे एकेश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद के रूप में परिणत हुआ। परन्तु महर्षि दयानंद इस अवधारणा को मानना भारी भूल समझते हैं। उन्होंने देवतावाद का वर्णन वेद, ब्राह्मण, निरुक्त, उपनिषद तथा षड्दर्शनों के आधार पर किया है। स्वयं यास्काचार्य निरूक्त 7 4 2 में इस संशय का समाधान करते हुए लिखते हैं—"देवता दान से, द्योतित होने से, दीप्त होने से या द्यूस्थान में होने से होता है।" देवता शब्द की यह व्युत्पत्ति जड़ चेतन उभयविध देवताओं पर घटित होती है। महर्षि दयानन्द वेदों में वर्णित अग्न्यादि नामों को ईश्वर का पर्यायवाची मानते हैं। यजुर्वेद में भी अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप और प्रजापति आदि नामों से उसी ईश्वर का ज्ञान होता हे, यह वर्णन है।

तदेवाग्निस्तद्रादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ (यजुर्वेद 32.1)

एक एव (अथर्व 2.2.1) और **देव एक** (ऋग्वेद 10.8.3) तथा में ईश्वर नाम की शक्ति एक ही मानी गई है कि वह एक ही है। देवतावाद को भ्रममूलक बताते हुए श्रीपाद दामोदर सातवलेकर लिखते हैं—"जिस प्रकार एक ही पुरुष के लिए पिता, भाई आदि गुणबोधक अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं तथापि इन अनेक शब्दों से उस एक ही व्यक्ति का बोध होता है, उसी प्रकार अग्नि, वायु आदि अनेक गुणबोधक शब्दों में से एक ही परमात्मा का बोध होता है। अतः भिन्न नामों के भ्रम से अनेक देवतावाद मे फसना किसी को उचित नहीं। अतः बहुदेवतावाद को न मानकर एकेश्वरवाद को मानना उचित है।"

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् (ऋग्वेद 1.164.39) में अक्षर शब्द वेद में परमेश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। स्वामी दयानंद "अक्षर" को ईश्वरवाची बताते हैं। निरूक्तकार (13.10) यास्काचार्य भी "शाकपूणि" ऋषि के मतानुसार 'अक्षर' शब्द का अर्थ "ओम्' ही करते हैं।

इन्द्र--शब्द का ईश्वर के लिए वेदों में अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। ऋग्वेदभाष्य (1.164.46) में स्वामी दयानंद इन्द्र शब्द का अर्थ परमात्मा करते हैं। इदि परमैश्वर्ये इत्यस्य धातोरर्थानुगतात् इन्द्रः परमात्मा। आचार्य सायण ने भी ऋग्वेद में 'इन्द्र' शब्द का अर्थ परमात्मा ही किया है।

ओ३म्—"ओ३म्" परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम है। समस्त ऋषियों एव विद्वानों ने ओम् शब्द को ईश्वरवाची माना है। स्वामी दयानंद ओम् को ईश्वर का सर्वोत्तम नाम कहते हैं।

वेद में ईश्वर के गुणवाचक अनेकों नाम वर्णित हैं उनमें से एक सौ नामों की व्याख्या स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में भी की है। वेद में विष्णु, सविता, विश्वकर्मा, पुरुष, प्रजापति, सत्, चित्त, आनन्दमय, निराकार, अजन्मा, अनादि, सर्वव्यापक, शरीर से रहित, अजर और नित्य आदि विविध नाम ईश्वर के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। षड्दर्शनों में इन्हीं गुणकर्म स्वभाववाचक नामों के आधार पर ईश्वर का विवेचन किया गया है।

वेद में जीवात्मा

वेद जीवात्मा की सत्ता को पृथक् मानते हुए जीवात्मा को अविनाशी और शरीर को नश्वर कहता है। इस शरीर की पालनार्थ वह अन्न खाता हुआ अपने कर्मो से कभी पतन की तरफ जाता है कभी उन्नति की तरफ। स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य (1.164.38) में 'अमर्त्य' शब्द का अर्थ-मरण-धर्म-रहित जीव किया है।

पुरुष—निरूक्त (2.3) में पुरिशयनात् के निर्वचन में शरीर रूपी पुरी में रहने के कारण जीवात्मा को पुरुष कहा गया है। वेद में कहा गया है—

अपानति, प्राणाति, पुरुषो गर्भ अन्तरा।

जीवो त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥ अथर्व॰ 46.14

"यह पुरुष गर्भ के भीतर रहता हुआ श्वास-प्रश्वास लेता है।" वस्तुत वेद प्रतिपादित यही पुरुष शब्द परवर्ती साहित्य में जीवात्मा के लिए प्रचलित हुआ। वेद मे जीवात्मा को मां के गर्भ में जन्म लेने वाला कहा गया है। कतिपय विद्वानों का यह भी मत है कि वेद में आत्मा के लिए मन, आत्मा और असु शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद (4.91) में भी 'आत्मानम्' शब्द का अर्थ चेतन आत्मा किया है।

वेद मे जीवात्मा का स्वरूप

वेद में जीवात्मा को अणु, स्वल्पज्ञ, भोक्ता, कर्ता, आवागमनयुक्त कहा गया है।

अणु–अथर्ववेद में (10.8.5) में **बालादेकमणीयस्कम्** मन्त्र में आत्मा का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म, अणुरूप बतलाया गया है।

आवागमनयुक्त–जीवात्मा अपने जन्मदाता माता-पिता से वियुक्त होकर पुन अग्रिम जन्म में माता-पिता के दर्शन करना चाहता है। इसलिए बारम्बार गर्भ में जाता ह। आचार्य सायण भी ऋग्वेद (1.164.32) में जीवात्मा को अनेक जन्मों को धारण करने वाला मानते हैं।

स्वल्पज्ञ–ऋग्वेद (1.164.6) में **'अचिकित्वाश्चिकितुषः'** इस मंत्र में जीवात्मा की अज्ञानता को स्वीकार करके उसे स्वल्पज्ञ कहा है। इसीलिए जीवात्मा परमात्मा से मेधावी होने की प्रार्थना करता है। स्वल्पज्ञान से ही यह अज्ञान से आवृत्त होता है।

भोक्ता–जीवात्मा के द्वारा प्रकृति का भोग किए जाने से वेद में जीवात्मा को "श्न" अर्थात् सुख और दुःख का भोक्ता कहा है। जीवात्मा भोग्य पदार्थों की प्रार्थना करता है और अनादि पदार्थों का भोग करता है।

जीवों की अनेकता–**इमे जीवा** (ऋ. 10.18.3) **जीवानामायु** (अथर्व 12.2.45) **जीवेभ्यस्त्वा** (अथर्व 8.1.15) और **वयम् जीवा** (ऋ. 10.38.8) में जीवात्मा शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया गया है। इससे यही प्रमाणित होता है कि वेद जीवों की बहुलता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। अतः जीवात्मा अनेक हैं। जीवात्मा के इसी स्वरूप का व्याख्यान षड्दर्शनों में सन्निहित है।

वेद में प्रकृति

वेदों में प्रकृति को स्वधा, माया, अदिति, त्रिगुणात्मिका और अनस्था कहा गया है। अनेक मन्त्रों में प्रकृति के स्वरूप आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। जिसके आधार पर परवर्ती साहित्य में प्रकृति का सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक वर्णन हुआ है।

स्वधा–ऋग्वेद (10.129.2) नासदीय सूक्त में प्रकृति का वर्णन है। **अनादिवातस्वधया तदेकं** इत्यादि मंत्र में प्रकृति को ही, स्वधा, नाम से अभिहित किया गया है परन्तु सायणाचार्य (सायणभाष्य पृ. 779) स्वधा का अर्थ माया करते हुए लिखते हैं कि प्रलयावस्था में "माया से सहित ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई भौतिक वस्तु नहीं थी।" त्रिगुणात्मक के ज्ञान विरोधिभावरूपम् (वेदान्तसार पृ. 14) में माया को अद्वैतवादियों ने त्रिगुणात्मक ज्ञानविरोधी भावरूप तत्व माना है। **सदसदभ्यामनिर्वचनीयम्** (वेदान्तसार पृ. 14) में अद्वैतवादी माया को अनिर्वचनीय मानते ह जब कि त्रैतवादी सांख्यकार **सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः** (सांख्यदर्शन 1.26) मे प्रकृति को ब्रह्म के आश्रित तथा त्रिगुणात्मक और निर्वचनीय मानते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् (4.10) **मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्** में माया ओर

प्रकृति को एक ही मानता है। ऋग्वेद के एक मंत्र मे यह कहा गया है कि ... मे असत् नहीं था ओर न सत् (कार्य जगत्) था। इसके समाधान में इसी नासदीय सूक्त में "स्वधा" और "तमस्" शब्द से प्रकृति की "तदेकम्" शब्द से ईश्वर की तथा "रेतोधा" शब्द से जीवात्मा इन तीन तत्त्वों की विद्यमानता स्वीकार की गई है। परवर्ती साहित्य में तमस् शब्द प्रकृत्यर्थ में ही प्रयुक्त है।

प्रकृति–**नासदासीन्नो** (ऋ. 10.129.1) **स्वधया तदेकं** (ऋ. 10.129.2) **तम आसीत् तमसा गूढमग्रे** (ऋ. 10.129.3) और **रेतोधा आसन्** (ऋ. 10.129.5) में असत् शब्द अभाव और कार्यरूप सत् व्यक्त प्रकृति के रूप में प्रयुक्त हैं। यहां असत् से सत् उत्पन्न हुआ अर्थात् प्रकृति से कार्य जगत् उत्पन्न हुआ यह मत व्यक्त है।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता (ऋ. 1.49.10) मंत्र में 'अदिति' शब्द प्रकृति के लिए प्रयुक्त हुआ है। स्वामी दयानन्द ऋग्वेदभाष्य में लिखते हैं–"ईश्वर जीव और प्रकृति अर्थात् जगत् का भोक्ता जीवात्मा सूक्ष्म और स्थूल प्रपंच को जानने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है।" ऋग्वेद के 10.164.37 मंत्र में भी जीवात्मा की अल्पज्ञता का वर्णन है।

व्याप्य-व्यापक–वेद में ईश्वर और जीवात्मा के व्याप्य-यापक संबंध का वर्णन है। वेद में स्पष्टतया आत्मा को सम्बोधित करते हुए कहा है कि "वह ईश्वर तुम से भिन्न है।" यहां जीवात्मा को परमात्मा में व्यापक कहा गया है।

एक-अनेक–वेद ईश्वर को एक और जीवात्मा को अनेक मानता है। यही पुरुष बहुत्व और एकेश्वरवाद का सिद्धान्त षड्दर्शनों को भी मान्य है।

पिता-पुत्र–वेद परमात्मा को पिता और जीवात्मा को पुत्र कहता है। लोक व्यवहारवत् ईश्वर और जीवात्मा में पिता-पुत्र का सम्बन्ध भिन्नता का प्रतिपादक है।

ताण्ड्य ब्राह्मण (5.1.1) में भी ईश्वर को परब्रह्म प्रजापति और सर्वव्यापक कहा गया है। एक कण्डिका में कहा है कि हिरण्यगर्भ रूप में वही पहले विद्यमान था, उत्पन्न हुए जगत् का वही एक स्वामी था।

कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण (2.4.6.1) में ईश्वर को प्रजापति, विष्णु कह कर उसे समस्त जगत् का रक्षक कहा गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में जीवात्मा

शतपथ ब्राह्मण (14.5.1.10) में जीवात्मा को विज्ञानमय पुरुष और अन्तर्वर्ती हृदयाकाश में शयन करने वाला कहा गया है।

सामविधान ब्राह्मण (1.2.7) का कथन है कि–"यह जीवात्मा पवित्र होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है फिर जन्म के बन्धन में नहीं आता।"

जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण (1.143.1) में जीवात्मा के लिए इन्द्र शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि यह ऐश्वर्यवान् इन्द्र (जीवात्मा) अपनी बुद्धियों के अनुसार अनेक

प्रकार से जाना जाता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण (1.3.4) में शरीर में स्थित जीव के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (1.4.2) में जीवात्मा की पितृमार्ग और देवमार्ग में गति होने से जीव की नित्यता सिद्ध होती है।

पुनर्जन्म

ब्राह्मण ग्रन्थों में पुनर्जन्म का स्पष्टतया उल्लेख है कि यह आत्मा इस शरीर को मारकर और अचेतन करके नया अच्छा रूप धारण करता है–पितर, गन्धर्व का, प्रजापति देव मनुष्य का या किसी अन्य प्राणी का। इसी सिद्धान्त को देवताध्याय ब्राह्मण में भी कहा गया है ज्ञान से पवित्र, महायशस्वी, ज्ञानी, धैर्यवान् ऋषि सतयुग के आदि में फिर जन्म ले लेता है। "इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में जीवात्मा के मोक्षपर्यन्त पुनर्जन्म होने का सिद्धान्त वर्णित है।"

पुरुष बहुत्व

वेद की ही भांति **ताण्डय ब्राह्मण** (4.7.4) ग्रन्थ भी जीव शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग जीव के बहुत्व को सिद्ध करता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (1.1.3.5) में आपः शब्द का प्रयोग प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए कहा है कि "उस व्यापक मूल उपादान कारण में यह दृश्यमान कार्य जगत् लीन था।" आचार्य सायण ने यहां 'सलिल' का अर्थ कारण से संगत अर्थात् कारण मे विभागरहित अवस्था में रहने वाला किया है और आपः को कारण माना है। वह मूल कारण प्रकृति ही हो सकती है। क्योंकि प्रकृति प्रलयावस्था में आप (व्यापक) रूप मे रहती है यहां असत् शब्द को प्रकृति और सत् शब्द का प्रयोग कार्य जगत् के लिए हुआ है। इस प्रसंग में कार्य-कारण एवं असत् से सत् की उत्पत्ति का उल्लेख है।

आरण्यक ग्रन्थों में दार्शनिक चिन्तन

तैत्तिरीय आरण्यक में ईश्वर को अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र, अमृत, ब्रह्मा, आप और प्रजापति कहा गया है। इसके अतिरिक्त कई स्थलों पर ईश्वर के लिए अक्षर, (अविनाशी) पुरुष, ओम्, ब्रह्म, आत्मा, स्वयंभूः, इन्द्र आदि नामों से भी अभिहित किया गया है। यहां स्पष्टतया एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है–"एक ही परमेश्वर बाहर-भीतर सब जगह व्याप्त है।"

जीवात्मा– तैत्तिरीयारण्यक (10.14.14) में जीवात्मा को अमर बतलाते हुए उसे अमृत जीव भी कहा गया है। आचार्य सायण ने भी तै. आ. (6.10.14) के भाष्य मे जीवात्मा को मरणरहित कहा है। जीवात्मा का बहुवचनान्त प्रयोग कर पुरुष बहुत्व के वेदिक सिद्धान्त को पुष्ट किया गया है।

प्रकृति–प्रकृति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि एक 'अजा' है जो त्रिगुणात्मक और अपने ही रूप वाली प्रजा को जन्म देती है इसमें एक अजा प्रीति या परितृप्ति के साथ शयन करती है और अन्य अज इसमें भोगों को भोग कर इसे छोड देता है। अजा शब्द का अर्थ प्रकृति ही है।

यहां प्रकृति को अनादि और त्रिगुणात्मक माना गया है। तैत्तिरीयारण्यक में एक स्थान पर कहा है–"असत् ही पहले था उससे सत् पैदा हुआ।" यहा असत् शब्द से जगत् के कारण की अव्यक्तावस्था और सद् शब्द से व्यक्त अवस्था अर्थात् कार्य जगत् विवक्षित है।

इस प्रकार तैत्तियारण्यक में ईश्वर, जीवात्मा, प्रकृति और कारण-कार्यादि दार्शनिक सिद्धान्तों के सन्दर्भ विद्यमान हैं। जिनका विस्तृत विवेचन उपनिषदों में हुआ है।

उपनिषदों में दार्शनिक चिन्तन

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय–उपनिषद् साहित्य का निःसन्देह वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ और आरण्यक ग्रन्थों के उपरान्त सृजन हुआ। क्योंकि उपनिषदों में वेद के मन्त्रों को सरल रीति के कथानकों के माध्यम से बतलाया गया है अतः उनमें वेदेतर सिद्धान्तो का प्रतिपादन मानना युक्तिसंगत नही है। वेद, ब्राह्मण और आरण्य स्पष्टतया ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीन तत्वों का विवेचन करते हुए त्रैतवादी सिद्धान्त की स्थापना करते हैं पुनः उपनिषदों में इनके विरोधी मतो का स्थान ही नहीं रह जाता। परन्तु कतिपय मध्यमकालीन दार्शनिकों ने उपनिषदों में अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि की पारस्परिक विरोधपूर्ण विचारधारा को स्वीकार किया है। कालान्तर में इन्ही मतो को लेकर विभिन्न विचारको ने अपने-अपने सिद्धान्तों को पल्लवित करके उन्हे स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित किया है। इसी संदर्भ में डॉ. सुधीर कुमार गुप्त का कथन है–"संभवतः द्वैतवाद ही ऋषियों को अभिप्रेत है जिसकी दृष्टिभेद से द्वैत और अद्वत से अभिव्यक्ति की गई है।" उमेश मिश्र का मत है–किसी विशेष शास्त्र के समान तत्व के विचारों का वर्गीकरण उपनिषद में नहीं है इसलिए उपनिषद् का कोई भिन्न अपना दर्शन नही है।" एच. एम. हिरयिना कहते हैं–"आज का जिज्ञासु वेदान्त क किसी सम्प्रदाय विशेष का अनुसरण करने के लिए पहले से वचनबद्ध नहीं है और इसलिए उसे यह मानने को विवश होना पड़ता है कि उपनिषदों में दो, तीन नहीं बल्कि अनेक परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं।"

महर्षि दयानन्द उपनिषदों में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को भिन्न तथा अनादि मानते हैं। अतः उपनिषदों में निःसन्देह त्रैतवाद का विशिष्ट अस्तित्व है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में कतिपय अन्य दार्शनिक सन्दर्भ भी विद्यमान हैं जो षड्दर्शनों मे पूर्णतया पल्लवित हुए हैं।

उपनिषदों में ईश्वर

उपनिषदों में ईश्वर का, ओउम् आविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, अदृश्य, अजन्मा, अत्यन्त सूक्ष्म, आनन्दमय, अमृत, एक, जगत्कर्ता, निराकार, चेतन, निर्गुण, और अग्न्यादि शब्दों से वर्णन किया गया है।

कठोपनिषद् में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है—"सारे वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, सब तप जिसको पुकारते हैं, जिसकी इच्छा से ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, सक्षेप में वह शब्द "ओ३म्" यह है। वह ईश्वर आकाशादि के गुण, शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित है। अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, ध्रुव और महतत्त्व से परे है। इसी ईश्वर को जानकर जीवात्मा ब्रह्मलोक में महानता को प्राप्त करता है। अर्थात् मुक्ति की अवस्था में ब्रह्मलोक मे रहता है।

मुण्डकोपनिषद (1.1.6) में ईश्वरीय स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है "वह अदृश्य, ग्रहण न होने वाला, अजन्मा, रूपरंगरहित, आंख, कान, हाथ, पैर से रहित, नित्य, सत्तामय, सर्वत्र विद्यमान, अत्यन्त सूक्ष्म, अपरिवर्तनशील, सम्पूर्ण जगत् का कारण है, उसे धीरजन जानते हैं।"

छान्दोग्योपनिषद (1.1.1) में ईश्वर का "ओम्" नाम से उल्लेख करके उसे आनन्दमय बतलाया गया है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में ईश्वर को अविनाशी, पूर्ण, और अमृत कहा गया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वर के स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें इश्वर को अजन्मा, एक इन्द्रियों के बंधन से रहित, महान् से महान्, अनादि, जगत् का स्रष्टा, संसार का अकेला अधिष्ठाता, न वह किसी का उपदान कारण, न उसका कोई कारण, निर्गुण, सत्व, रज, तम से रहित और अग्न्यादि अनेक नाम वाला बतलाया गया है।

उपनिषदों में जीवात्मा

उपनिषदों में जीवात्मा को चेतन, अजन्मा, अनादि, कर्मशील, हृदय में स्थित, पुनर्जन्म धारण करने वाला, अणु कहा गया है।

कठोपनिषद् में जीवात्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि "यह चेतन आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है। यह जीवात्मा अजन्मा, नित्य, अविनाशी और अनादि है। शरीर के नाश होने पर यह नहीं मरता। यहां जीवात्मा को देही और प्राणी के हृदय में रहने वाला कहा है। जीवात्मा शरीर रूपी रथ मे रथी अर्थात् रथ के द्वारा यात्रा करने वाले के समान है।

मुण्डकोपनिषद् में जीवात्मा के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग करके "ब्रह्म" को उसका लक्ष्य बतलाया गया है। जीवात्मा को "पश्यः" देखने वाला कहकर ईश्वर को

"दृश्य" देखने योग्य बतलाया है।

छान्दोग्योपनिषद् में जीवात्मा का वर्णन इस प्रकार से किया है कि–"जीवात्मा जैसे कर्म करता है वैसा ही फल अग्रिम जन्म में प्राप्त करता है। जीवात्मा अणु और अमर है।"

बृहदारण्यकोपनिषद् में जीवात्मा की सुप्तावस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "यह विज्ञानमय पुरुष जब सो रहा था तब इन्द्रियों के विज्ञान के चेतनभाव को अपनी चेतन सत्ता से ग्रहण करके जो यह हृदय में आकाश है, उसमें सोता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में जीवात्मा के स्वरूप का उल्लेख इस प्रकार किया गया है कि–"यदि बाल के अगले हिस्से के सौ भाग किए जावें फिर उन सौ में से एक-एक के सौ हिस्से किए जावें उतना भाग जीवात्मा का समझना चाहिए।" इससे जीवात्मा अणु सिद्ध होता है। जीवात्मा लिंगरहित है, जिस-जिस शरीर को यह ग्रहण करता है, उस उसके लिंग के साथ संयुक्त हो जाता है। यह जीवात्मा कर्मानुसार अनेक प्रकार के शरीरों में जाता है और अपने कर्मों से अनेक प्रकार के छोटे-बड़े शरीरों को प्राप्त करता हुआ कर्मफल भोगता है।

इस प्रकार उपनिषद् जीवात्मा की पृथक् सत्ता, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अनादित्व और नित्यत्व तथा अनेकत्व को स्वीकार करते हैं।

उपनिषदों में प्रकृति

उपनिषदों मे प्रकृति का अव्यक्त, वृक्ष, असत्, आपः, माया, उपादान कारण आदि शब्दों से वर्णन किया गया है।

कठोपनिषद् (1.3.11) में "अव्यक्त" शब्द का प्रकृति के लिए प्रयोग किया गया है। यहां महतत्त्व से अव्यक्त (प्रकृति) को परे कहा है। साख्यदर्शन में भी इसी प्रकार 'प्रकृतेर्महान्' सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रकृति से महतत्त्व उत्पन्न हुआ है। यहा अद्वैतवादी आचार्य शंकर ने भी अव्यक्त का अर्थ 'सम्पूर्ण जगत् का बीजभूत' किया है। महर्षि दयानन्द के अनुगामी त्रैतवादी विद्वान् पं. भीमसेन ने भी यहां अव्यक्त को प्रकृति और जगत् का कारण कहा है।

मुण्डकोपनिषद् (3.1.1) में प्रकृति का उल्लेख "वृक्ष" शब्द का अद्वैतवादियो ने शरीर अर्थ किया है। जब कि त्रैतवादी विद्वान् यहां वृक्ष का अर्थ प्रकृति ही करते है।

छान्दोग्योपनिषद् (3.19.1) में कहा है कि "यह जगत् पहले असत् अर्थात् अव्यक्त था। परन्तु वह सत् था अर्थात् उसका अभाव नहीं था। क्योंकि असत् से अभाव से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सत् से अर्थात् भाव रूप तत्व से ही सृष्टि की उत्पत्ति संभव है। यहां ईश्वर और प्रकृति दोनों भावरूप तत्व हैं और चेतनतत्व मे ही जगत् को रचने की इच्छा पैदा हुई। यहां यह स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि चेतन उपादान से अचेतन कार्य कैसे? और अचेतन उपादान बिना चेतन की सहायता

से सृजन नहीं कर सकता अतः जगद्रचना में चेतन तत्व की परमावश्यकता है और छान्दोग्योपनिषद् में इन दोनों तत्वों को "असत्" अव्यक्त रूप मे कहा गया है।

'सदैव सौम्येदमग्रमासीत्' इत्यादि वाक्य में अद्वैतवेदान्ती ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी जातीय या विजातीय तत्व को नहीं मानते परन्तु त्रैतवादियों का कथन है कि 'वह ब्रह्म एक ही अनुपम था, उस जैसा दूसरा नहीं था, परन्तु विजातीय तत्व थे। वस्तुतः माया ही त्रिगुणात्मक तत्व होने से ब्रह्म से विजातीय सिद्ध होती है क्योंकि ब्रह्म गुणातीत है। यहां सृष्टि प्रक्रिया में अचेतन तत्व प्रकृति को ही स्वीकार किया गया है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में प्रकृति के वर्णन के लिए "आप" शब्द प्रयुक्त करते हुए कहा गया है कि—"आप ही पहले था", यहां आचार्य शंकर कहते हैं कि—

आपः का अर्थ जगत् का बीज रूप परन्तु आत्मा के साथ अव्याकृत अवस्था में वर्तमान प्रकृति है। उपनिषदों के यथार्थवादी भाष्यकार नारायण स्वामी और प्रो. सत्यव्रत भी यहां 'आप' का अर्थ प्रकृति करते हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (4.10) में प्रकृति का वर्णन इस प्रकार किया गया है— "माया को प्रकृति जानो और इस प्रकृति का प्रेरक महेश्वर को जानो।" प्रकृति का 'प्रधान' शब्द से उल्लेख करते हुए कहा गया है कि—

"जैसे मकड़ी तन्तुओं से अपने को आच्छादित कर लेती है, इसी प्रकार देव अकेला प्रधान अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होने वाले जन्तु रूप मायाजाल से संयुक्त हो जाता है। यहां मकड़ी का शरीर उपादान कारण है। उसी प्रकार ईश्वर इस सृष्टि का निमित्त कारण है तथा प्रकृति उपादान कारण है।

ईश्वर प्रकृति से कार्य जगत् को रचकर उसमें वह व्याप्त रहता है। इस उपनिषद् मे जगत् के उपादान कारण के रूप में प्रकृति का निरूपण किया गया है।

उपनिषदों में ईश्वर, जीव और प्रकृति में भेद

कठोपनिषद् (1.3.1) में ईश्वर और जीवात्मा को अनादि, अजन्मा और नित्य कहते हुए दोनों को बुद्धि की गुफा में एक स्थान पर ही धूप और छाया की तरह परस्पर भिन्न स्थिति में विद्यमान कहा है। इसी स्थल की व्याख्या करते हुए पं. भीमसेन शर्मा लिखते हैं—

"सत्य का सेवन करते हुए बुद्धि की गुफा में प्रविष्ट जीवात्मा और परमात्मा अल्पज्ञ और सर्वज्ञत्व गुण से अंधकार और प्रकाश की तरह विलक्षण और भिन्न कहे गए हैं।"

मुण्डकोपनिषद् के एक मंत्र में ईश्वर जीव और प्रकृति को भिन्न-भिन्न बतलाते हुए कहा गया है—

"दो पक्षी हैं (जीवात्मा और परमात्मा) परस्पर मिले हुए सखा हैं, एक ही समान

वृक्ष को आलिंगन किए हुए हैं। उनमें एक (जीवात्मा) उस प्रकृति रूपी वृक्ष के स्वादु फलों को खाता है और दूसरा (ईश्वर) न खाता हुआ केवल देखता है।"

यहां स्पष्टतया ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति की भिन्न-भिन्न सत्ता स्वीकार की गइ है। ईश्वर द्रष्टा, प्रकृति भोग्या और जीवात्मा भोक्ता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में जीवात्मा को देह में रहने वाला "देही" कहा गया है तथा इश्वर को सर्वव्यापक माना है। जीवात्मा कर्मफल के चक्र में आता है और ईश्वर कर्मबंधन में नहीं आता।

जीवात्मा को इन्द्रियों से युक्त शरीर में आया हुआ तथा ईश्वर को सर्वव्यापक माना है।

उपनिषदों में कहीं पर जीवात्मा को 'रथी', 'सर' (तीर) आदि शब्दों से साधक के रूप में तथा शरीरादि व भौतिक तत्वों के साधन के रूप में एवं ब्रह्म का साध्य रूप में वर्णन है।

इस प्रकार साधक, साधन और साध्य रूप में जीवात्मा, प्रकृति और ईश्वर का वणन उपनिषदों में विद्यमान है। उपनिषदों में ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण और प्रकृति को जगत् का उपादान कारण माना गया है। यही सिद्धान्त षड्दर्शनों में विस्तृत रूपेण विद्यमान है।

उपनिषदों में अन्य दार्शनिक सन्दर्भ

वृहदारण्यकोपनिषद् में पच्चीस तत्वों का वर्णन करते हुए कहा गया है—"जिसमे (जिस ईश्वर में) पांच-पांच जन, पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, सजीव जगत् और आकाश स्थिर हैं, मैं अमर आत्मा उस ही अविनाशी आत्मा को जानता हुआ ब्रह्म मानता हूं। उस प्राण के प्राण को और नेत्र के नेत्र को तथा श्रोत्र के श्रोत्र को मन के मन को जो जन जानते हैं उन्होंने ही सनातन मुख्य ब्रह्म को जाना है, विचार और अनुभव से निश्चित किया है।"

छान्दोग्यपनिषद् में सत्कार्यवाद का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—हे सोम्य! यह ब्रह्म सृष्टि से पूर्व सत् अस्तिरूप ही था। वह सद्रूप ब्रह्म एक ही अद्वितीय था। अपने स्वरूप में अखण्ड था और उसके सदृश कोई दूसरा नहीं था। उसमें कई जन कहते हैं अभाव न होना ही पहले था। वह अभाव एक ही केवल था। उस अभाव से नास्ति से भाव उत्पन्न हुआ।"

छान्दोग्योपनिषद् में अहंकार का भी विवेचन है—"जैसे परमपुरुष की महिमा कहकर सनत्कुमार कहता है कि अब इससे आगे अहं भावना का उपदेश ही है। मै ही नीचे हूं, मैं ऊपर हूं, मैं पीछे हूं, मैं आगे हूं, मैं दक्षिण से हूं मैं उत्तर से हूं और मै ही सब हूं, मैं ही यह सब सर्वचैतन्य स्वरूप हूं। मैं सर्वत्र व्याप्त हूं।"

षड्दर्शन में विवेचित तत्वों का उल्लेख **श्वेताश्वरोपनिषद्** में ब्रह्म, जीव, प्रकृति,

प्राण, आकाश, वायु, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, कर्म, पांच सूक्ष्म भूत, पांच क्लेश, धर्म, अर्थ और कामादि दार्शनिक तत्वों का विवेचन किया गया है।

मनुस्मृति में दार्शनिक सन्दर्भ

महर्षि दयानंद ने मनुस्मृति को भी (प्रक्षिप्तांश को छोड़कर) प्रामाणिक स्वीकार किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में धर्म, दर्शन एवं राजनीति के विषयों में मनुस्मृति के श्लोकों को उद्धृत किया है। मनुस्मृति में त्रैतवाद के अन्तर्गत ईश्वर, जीव और प्रकृति के साथ-साथ अन्य दार्शनिक सन्दर्भो का भी उल्लेख है।

ईश्वर–मनुस्मृति में ईश्वर को ब्रह्म, स्वयम्भू, अव्यक्त आदि शब्दों से वर्णित किया गया है। ब्रह्म के विषय में भगवान् मनु लिखते हैं "यह ब्रह्म एकाक्षर अर्थात् ओम् नाम से अभिहित है।" ब्रह्म को स्वयम्भू, भगवान् और अव्यक्त नामों से वर्णित करते हुए कहा गया है–

"वह इस सृष्टि को प्रकाशित करता है उसका ओज पृथ्वी, जल, तेज आदि महाभूतों में विद्यमान है, वही प्रकृति को प्रेरित करता है। वह इन्द्रियो से ग्राह्य नही है, सूक्ष्म, अव्यक्त तथा सनातन है, सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त, अचिंत्य और स्वयम्भू है। वही ईश्वर अपने शरीर प्रकृति से विविध प्रजाओं को बनाता है।"

यहां इन प्रसंगों में एक परमात्मा के अनेक नाम और गुण बतलायें हैं। वही इस सृष्टि का निमित्तकारण है। वही प्रकृति को प्रेरणा देने वाला व नित्य परमब्रह्म है।

जीवात्मा–पुरुष बहुत्व मनुस्मृति (1.30) में जीवात्माओं का वर्णन करते हुए कहा गया है"जीवात्माएं पूर्ण कल्प के कर्मो को नये सर्ग में भी प्राप्त कर लेते हैं। इन जीवात्माओं को ब्रह्म ने धर्म और अधर्म के कर्मो के अनुसार सुख और दुःख से युक्त किया है। मनुस्मृति (2.82) में जीवात्मा को नित्य, कर्म-फल भोक्ता, सुख दुःख के बंधन में पड़ा हुआ, शरीर के बंधन से भिन्न शक्ति माना है। मनुस्मृति में आत्मा की अनेकता को स्वीकारा गया है और कहा है यह जीवात्मा साधना से उस परमब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।"

प्रकृति–प्रकृति का वर्णन करते हुए मनुस्मृतिकार (1.5) कहता है "यह जगत् प्रलयावस्था में तमस् प्रकृति के रूप में लक्षणों से रहित, तर्क के अयोग्य, अविज्ञेय और सोया हुआ-सा था।"

मनुस्मृति में परमात्मा के लिए "तमोनुदः" शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है जगत् की उत्पत्ति के समय प्रकृति को प्रेरणा करने वाला। एक अन्य स्थल पर भी कहा है–"ब्रह्म अपने शरीर से विविध प्रजाओं को बनाता है।" यहां पर ब्रह्म के शरीर से तात्पर्य प्रकृति ही है क्योंकि वह प्रलय के समय में इसमें व्यापक रूप में रहता है। इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है–

"जो अव्यक्त कारण (प्रकृति) है जिसे नित्य और सद-सदात्मक कहते हैं। उस

(प्रकृति) से इस सृष्टि को बनाने वाला पुरुष ब्रह्म कहलाता है।"

यत् कारणमव्यक्तम् नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते। (मनु. 1.11)

इस प्रकार प्रकृति को जगत् का मूल उपादान कारण और ईश्वर को निमित्त कारण तथा जीवात्मा को कर्ता व भोक्ता बता कर तीनों तत्वों को अनादि व नित्य माना है।

❑

द्वितीय अध्याय

योगदर्शन

योग का अर्थ

युज्=समाधौ धातु से समाधि के अर्थ में 'योग' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है–समाधि। योग शब्द की भुजिद्=योगे धातु से भी निष्पत्ति होती है जिसका अर्थ है–जोडना, अर्थात् चित्त एवं उसकी शक्तियों का पारमार्थिक सत्ता=ईश्वर से सबध संस्थापित करना। पतंजलि ने भी **योगश्चित्तवृत्तिर्निरोधः** (योगदर्शन 1.1.1) चित्त की वृत्तियों के निरोध को "योग" कहा हे।

योगदर्शन के सूत्रकार–महर्षि पतंजलि

योग-सूत्रकार महर्षि पंतजलि के संबंध में विविध मान्यताएं हैं। भोजवृत्तिकार ने योग-सूत्रकार, व्याकरण महाभाष्य के रचयिता और चरक संहिता के प्रणेता को एक ही व्यक्ति मानते हुए कहा है–

> **योगस्य चित्तेन पदेन वाचां मलं शरीरस्य व वैद्यकेन।**
> **योऽपा करोत्तं प्रबरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि।**

क्योंकि कतिपय विद्वान् इससे सहमत नहीं है। ऊहापोह के पश्चात् उन्हें भिन्न मानना ही समीचीन है। इनके समय के संबंध में भी विद्वानों में पर्याप्त मत प्रचलित है। कुछ विदेशी विद्वान् इनका समय ईसा के पश्चात् चतुर्थ या पंचम शताब्दी मानते ह। परन्तु विविध प्रमाणों की पर्यालोचना के बाद पतंजलि का समय महाभारत से पूर्व निश्चित होता है।

योगदर्शन के प्रमुख व्याख्याता

भोज–प्रसिद्ध परमार वंशीय धारा नगरी के नरेश 'भोज' ने योगदर्शन पर 'राजमार्तण्ड' नामक वृत्ति लिखी है जिसे 'भोजवृत्ति' भी कहते हैं। महर्षि दयानन्द ने सस्कार विधि में इसे प्रामाणिक स्वीकार किया है।' 'सरस्वती कण्ठाभरण' (व्याकरण) और 'राज मृगांक' (वैद्यक ग्रन्थ) ये भोज की अन्य रचनाएं है। इनका समय संवत् 1075 से 1110 निश्चित है।

महर्षि व्यास–योगाचार्यों की परम्परा में महर्षि व्यास का प्रमुख स्थान है। वर्तमान मे योग सूत्रो पर इनका भाष्य प्रामाणिक है। महर्षि व्यास का समय विक्रम के तृतीय शतक के समीप माना जाता है। इसके अतिरिक्त विज्ञानभिक्षुकृत 'योगवार्तिक' और 'योगसार' तथा वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व-वैशारदी टीका' योग से सम्बन्धित प्रमुख ग्रन्थ हैं। षड्दर्शन समन्वय के दृष्टिकोण से स्वामी ओमानंद तीर्थकृत 'पातञ्जल योग प्रदीप' का महत्व निर्विवाद है। वैदिक मतानुसार आचार्य उदयवीर शास्त्रीकृत "विद्योदय भाष्य" अधिक प्रामाणिक एवं उपादेय है।

योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त

ईश्वर–योगदर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार किया गया है। इसमें जीवात्मा को उपास्य मानकर ईश्वर के वाचक 'प्रणव' के जाप करने का विधान है। महर्षि पतंजलि ने ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है–"**क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः** अर्थात् अविद्यादि क्लेश और पुण्यापुण्य रूप कर्म, उन कर्मों के फल और वासनाओं से रहित पुरुष विशेष अर्थात् अन्य पुरुषों (जीवों) से विशेष 'ईश्वर' है।" योगदर्शन में ईश्वर और जीव को भिन्न-भिन्न माना गया है। यथा–**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्** अर्थात् "उस ईश्वर में सबसे अधिक ज्ञान होने के कारण वह सर्वज्ञता का बीज रूप है। यहां निरतिशय शब्द से तात्पर्य है जो अतिशयभाव से निकला हुआ है और सर्वज्ञबीजम् का अर्थ है–सर्वज्ञता का जो मूल कारण है, ज्ञान की जहां पराकाष्ठा है।" यहां स्पष्टतया ईश्वर को सर्वज्ञ व निरतिशय कहा है। इस प्रकार ईश्वर उपास्य और जीवात्मा उसका उपासक हैं।

जीवात्मा–योगदर्शन में जीवात्मा द्वारा ईश्वर की उपासना किए जाने का वर्णन होने से पुरुष की सत्ता स्वतः सिद्ध है। अष्टांग योग के अनुष्ठान से जीवात्मा का अशुद्धिक्षय (अविद्या की निवृत्ति) होने पर उसे यथार्थ ज्ञान का प्रकाश होता है और ज्ञान विवेक प्राप्ति तक बढ़ता रहता है। योगदर्शन में चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही 'योग' कहा गया है और चित्त जीवात्मा का साधन है। चित्त की वृत्तियों के निरोध का फल बताते हुए सूत्रकार कहता है–**तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्** "जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सब के द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है। व्युत्थान अवस्था में उस जीवात्मा की चित्त वृत्ति के अनुरूप ही उसका ज्ञान होता है। जीवात्मा अविद्यादि पंचक्लेशों से संतप्त होता है जिसमें कर्म और क्लेश एक दूसरे के अनुग्रह के अधीन रहकर अपना कार्य करते हुए कर्मफलों को सम्पन्न करते हैं, जो जाति, आयु और भोग के रूप में व्यवस्थित हैं।"

प्रकृति–योग दर्शन और सांख्य दर्शन में प्रकृति के वर्णन में पर्याप्त समन्वय है। यह प्रकृति को अव्यक्त मानकर शेष समस्त कार्य तत्त्वों को व्यक्त मानता है और कार्य की अपेक्षा से होने वाली सूक्ष्मता को प्रकृति में परिसमाप्त स्वीकार करता है क्योंकि

प्रकृति अन्वयिकारण है। वह अपने कार्यों की अपेक्षा से होने वाली सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है। प्रकृति से जायमान जगत् को योगशास्त्र सत्य मानता है और इसे द्रष्टा पुरुषों का दृश्य कहता है। यह दृश्यमान प्रकृति पुरुष रूप जीवों के भोग और मोक्षार्थ है।

कर्म सिद्धान्त

योगदर्शन में कर्म-सिद्धान्त का अनुशीलन करते हुए कहा है–"पुरुष राग द्वेष से कर्म में प्रवृत्त होता है और उन कर्मों के अनुसार उसे जाति, आयु और भोग प्राप्त होते हैं। जिनके मूल में क्लेश शेष हैं–ऐसे कर्माशयों को दृष्ट जन्म, अदृष्ट जन्म, दृष्टादृष्ट जन्म भोगा करता है। इसी कारण कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय है। इनसे मनुष्य कर्म करने में प्रवृत्त होता है और तदनुरूप फल को प्राप्त करता है।" सत्कर्मों के अनुष्ठान के लिए योगदर्शन में अष्टांगयोग का मार्ग प्रशस्त किया गया है।

अष्टांगयोग

योगदर्शन में समाधि योग की प्राप्ति के निम्नांकित आठ अंग हैं जो 'अष्टांगयोग' कहलाते हैं।

1. **यम**–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। समस्त प्राणियों के प्रति वैर त्याग की भावना अहिंसा कहलाती है। सत्यवाक् और मन की यथार्थता को 'सत्य' कहते हैं। चोरी न करना, 'अस्तेय' कहलाता है। वीर्य लाभ अर्थात् वीर्य रक्षा की प्रतिष्ठा 'ब्रह्मचर्य' कहलाती है। विषयासक्ति का परित्याग एवं जितेन्द्रियता ही 'अपरिग्रह' है। इन यमों का पालन करना महाव्रत कहलाता है।

2. **नियम**–शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान 'नियम' कहलाते है। बाह्य व आभ्यान्तरिक शरीर की शुद्धि 'शौच' कहलाता है। सांसारिक कामनाओं की पूर्ति का सुख 'संतोष' है। सर्दी-गर्मी आदि द्वंद्वों का सहना 'तप' है इससे शरीर और इन्द्रियां अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके रोगरहित रहती हैं। 'स्वाध्याय' से परमेश्वरानुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र मुक्ति को प्राप्त होता है। 'ईश्वर प्रणिधान' से समाधि सिद्ध होती है।

3. **आसन**–जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हों उसको 'आसन' कहते है। जैसे पद्मासन आदि।

4. **प्राणायाम**–श्वास-प्रश्वास को 'प्राणायाम' कहते हैं। यह बाह्य, आभ्यान्तर, स्तम्भवृत्ति और बाह्याभ्यान्तर चार प्रकार का होता है।

5. **प्रत्याहार**–इन्द्रियों को विषयों से पूर्णतया हटाना 'प्रत्याहार' कहलाता है।

6. **धारणा**–चित्त को किसी एक वस्तु, नाभिचक्र या नासिकादि पर आलम्बित

कर दिया जाता है। इसे 'धारणा' कहते है इससे ज्ञान का स्थिरीकरण होता है।

7. ध्यान–जब धारणा द्वारा किसी एक वस्तु पर चित्त को आलम्बित कर दिया जाता है तो उस एकतानता को "ध्यान" कहते हैं।

8. समाधि–ध्यान से ध्येय वस्तुमात्र का प्रतीत होना और अपने स्वरूप-प्रतीति से शून्य जैसा भान होना 'समाधि' है। महर्षि दयानन्द पूर्वोक्त सात अंगो के फल का समाधि कहते हैं। समाधि दो प्रकार की है। **सम्प्रज्ञात** और असम्प्रज्ञात।

सम्प्रज्ञात समाधि–सम्प्रज्ञात समाधि के यम-नियमादि प्रथम पांच साधनों की अपेक्षा धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन साधन अन्तरंग हैं।

असम्प्रज्ञात समाधि–सम्प्रज्ञातयोग में अन्तरंग से कहे गए धारणादि तीनों साधन भी असम्प्रज्ञात योग के बाहरी अंग ही हैं। योगदर्शन में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि को ही 'सबीज' और 'निर्बीज' समाधि भी कहा जाता है।

कैवल्य

योगदर्शन में कैवल्य या मोक्ष का विस्तृत विवेचन किया गया है। कैवल्य से पूर्व साधना, समाधि और विभूति के संदर्भ में कहा गया है कि तप स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान के द्वारा अविद्यादि पांच क्लेशों का क्षय होकर चित्तवृत्ति निरोध होने पर समाधि की भावना उद्दीप्त होने लगती है जिसके लिए यम-नियमादि अष्टांग योग का अनवरत अभ्यास अनिवार्य है। तत्पश्चात् वैराग्य के उदय होने पर सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की भूमि सुदृढ़ हो जाती है। जिससे वैराग्यवान् साधक को अणिमादि सिद्धियां प्राप्त होती हैं। 'कैवल्य' के साधक को इसी योगनिष्ठ सरणी से क्रियारत रहने पर विवेक ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान-प्राप्ति से क्लेशादि निर्मूल हो जाते ह और योगी को त्रिगुणातीतता की संप्राप्ति होती है। इसे ही 'कैवल्य' या 'मोक्ष' कहते है।

सत्वपुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति अर्थात् "सत्वगुण प्रधान चित्त की बुद्धिवृत्ति ओर जीवात्मतत्व की शुद्धि की समानता होने पर 'मोक्ष' होता है।"

कैवल्यावस्था में पुरुष स्वच्छ ज्योतिर्मय अपने स्वरूप में केवली होकर प्रतिष्ठित हो जाता है यही योगदर्शन सम्मत 'कैवल्य' का स्वरूप है।

❑

तृतीय अध्याय

महर्षि दयानन्द और योगदर्शन

सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य में जिज्ञासा और गवेषणा की प्रवृत्ति रही है। इस धरातल पर अपने चक्षुओं का उन्मीलन करते ही अपने चहुं ओर विद्यमान प्राकृतिक परिवेश, विस्तृत ब्रह्माण्ड की अलौकिक संरचना, एवं जीवों की विभिन्नता और प्राणियो के सुख-दुःख की विविधतापूर्ण व्यवस्था को देखकर इस समस्त व्यवस्था के व्यवस्थापक को जानने की जिज्ञासा का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। इसी जिज्ञासा के शमन के लिए मानव सदा-सर्वदा से लौकिक-अलौकिक सुख-साधनों को प्राप्त करने मे पयत्नशील रहा है। फलतः प्राचीन ऋषि मुनियों ने सम्पूर्ण ब्राह्माण्ड के प्रवर्तक, नियामक और संहारक पर-ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जानने एवं उसका साक्षात्कार करने में सफलता अर्जित करते हुए जिस पद्धति को अपनाया वही 'योग' नाम से अभिहित है। क्योंकि योग ही मनुष्य को लौकिक और पारलौकिक सुख-सम्पदा से परिपूर्ण करने का एकमात्र साधन है, अतः योग-मार्ग का अनुसरण करना ही जीवात्मा की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी है।

वेदो में योग-विद्या का विस्तृत वर्णन समुपलब्ध होता है, जिससे समस्त वैदिक वाङ्मय योग विद्या के महत्व एवं प्रभाव से सन्निविष्ट है। योग की यह विद्या शास्त्राध्ययन और गुरू शिष्य परम्परा से निरन्तर प्रवाहित होती रही है। कालान्तर मे वेदिक मान्यताओं के अवलम्बन से ही दर्शनकारों ने ईश्वर, जीव और प्रकृति इन अनादि तत्वों का सूक्ष्म विश्लेषण करने हेतु दर्शन शास्त्रों का सृजन किया है। जिसमे महर्षि पतंजलिकृत योग दर्शन में योग का सांगोपांग विवेचन है।

तदुपरान्त महर्षि व्यास ने पातंजल योग दर्शन के सूत्रगत आशय को स्पष्ट करते हुए इस पर 'व्यासभाष्य' रचा। महाभारत काल तक यह विद्या अक्षुण्ण रूपेण प्रवाहित होती रही परन्तु महाभारत के पश्चात्वर्ती अविद्या अंधकारमय युग मध्यकाल में योग दर्शन भी तत्कालीन भाष्यकारों के पारस्परिक विवादों से वंचित न रहा जिससे सूत्रकार के मूल सिद्धान्त को समझना अत्यन्त कठिन हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी में महर्षि दयानंद ने समस्त वैदिक वाङ्मय के ऊहापोहपूर्वक अवगाहन के पश्चात् पूर्वापर दुराग्रह से उन्मुक्त होकर वैदिक उपासना पद्धति के विशुद्ध स्वरूप को प्रस्तुत किया। उन्होने ईश्वरोपासना विषयक समग्र अवधारणाओं को तर्क और प्रमाण से निरस्त करके प्राचीन

एव वेदानुमत और योगदर्शन प्रतिपादित उपासना पद्धति को निश्चित करते हुए लिखा—

"उपासना काण्ड-विषयक मन्त्रों के विषय में पातंजल, सांख्य वेदान्तशास्त्र ओर उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना।"

यहां उपासना के व्यापक एवं आर्ष ग्रन्थानुमोदित स्वरूप का आधार प्रस्तुत किया है। उन्होंने निज ग्रन्थों में उपासना विषयक सन्दर्भो में पातजल योगदर्शन के सूत्रो ओर व्यासभाष्य को अनेकत्र उद्धृत करके न केवल योगदर्शन की महत्ता का दिग्दशन कराया है अपितु निर्भ्रान्त रूप से निराकार पर-ब्रम्म की योगाभ्यास द्वारा उपासना करते हुए जीवात्मा के मोक्षावस्था को प्राप्त करके आनंद भोगने एवं पुनः जन्म धारण करने आदि दार्शनिक विषयों की भी विवेचना की है।

वस्तुतः महर्षि दयानन्द द्वारा स्वरचित वाङ्मय में उपासना के परिप्रेक्ष्य में उद्धृत योगदर्शन-विपयक सन्दर्भ योग दर्शन के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराने और वैदिक उपासना पद्धति का सांगोपांग बोध कराने में पूर्णतया सक्षम हैं। महर्षि दयानन्द ने स्वरचित "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" के 'उपासना विषय' का विवेचन समग्रतया योगदर्शन के आधार पर किया है। उपासना के महत्व एवं स्वरूप और पद्धति की सांगोपाग विवेचना करते हुए उन्होंने अन्य प्रसंगों में भी योग दर्शन के सन्दर्भो को सूत्र ओर व्यास भाष्यसहित उद्धृत किया है। परन्तु जहां उन्होंने योगसूत्रों की विवेचना के प्रसग मे व्यासभाष्य को पूर्णतया प्रामाणिक मानकर स्वग्रन्थों में उद्धृत किया है वहा प्राणायामादि के प्रसंग में स्वानुभूत मन्तव्य का भी उल्लेख किया है। जिससे योग दर्शन के दुरूह स्थलों को सरलता से समझा जा सकता है।

महर्षि दयानंद की यह स्पष्ट मान्यता है कि "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक हे।" क्योंकि "योग" भी एक सत्य विद्या है अतः निःसंदेह योगविद्या का मूल भी वेद ही है। वेद में अनेक स्थलों पर योग का व्याख्यान हुआ है। समग्र वैदिक वाङ्मय निर्भ्रान्तरूपेण "योगविद्या" का प्रतिपादन करता है। महर्षि दयानंद का यह कहना कि 'श्री कृष्ण अद्वितीय योगी थे" इससे यह सिद्ध होता है कि वेदों से लेकर महाभारत तक यह विद्या अजस्त्ररूपेण विद्यमान रही है। महाभारत काल के उपरान्त योगाभ्यास द्वारा एकेश्वर की उपासना करने के स्थान पर अनेकों देवी देवताओं की पार्थिव पूजा का भरपूर प्रचार हुआ। परन्तु शास्त्राध्ययनाध्यापन एवं गुरु-शिष्य परम्परा से अनेकों योगियों द्वारा योग-विद्या को हृदयंगम कर लेने से योग-विद्या तिरोहित न हो सकी। फलतः महर्षि दयानंद के समय तक कतिपय योगाभ्यासी एवं योगविद्या के मर्मज्ञ विद्यमान थे। जिनके संसर्ग में रहकर महर्षि दयानंद योग-विद्या के मर्म को हृदयगम करके सभी को योग के वास्तविक रहस्य से अवगत करा सके।

पार्थिव पूजा में अनास्था हो जाने के उपरांत वे सच्चे ईश्वर की खोज में समस्त सासारिक बंधनों से उन्मुक्त होकर निकल पड़े। कुछ समय पश्चात् उन्होंने दो योगियो

म योगासाधन का ज्ञान अर्जित किया और उसे क्रियात्मक रूप मे परिवर्तित करने एव मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से हिमालय की कन्दराओं में साधनारत रहे। योगसाधना की इस कठिन तपस्या से उन्होंने योगविषयक गहन-ज्ञान एवं प्राप्त सिद्धियों के आधार पर ही कहा था—"मैं ब्रम्हानन्द को त्यागकर लोकोपकार की भावना से पुनः संसार में लौट आया हूं।

उनके इस कथन से यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वे ईश्वर का साक्षात्कार करके मोक्ष-प्राप्ति के समक्ष थे। परन्तु लोकोपकार की भावना से उन्होंने ब्रम्हानंद को त्यागकर स्वोपार्जित ज्ञान के प्रखर आलोक से समस्त भूमण्डल को आलोकित करने की चाहना की और पर्याप्त सफलता भी अर्जित की। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उनका योग-विषयक ज्ञान केवल शास्त्रीय अध्ययन मात्र नहीं था अपितु वे योग विद्या के मर्मज्ञ एवं सिद्धयोगी थे।

महर्षि दयानंद ने गुरुवर विरजानंद से शिक्षा प्राप्त कर लेने के पूर्व 11, 12 वर्ष तक योग साधना की और विविध स्थानों की यात्रा करते हुए अनेकों योगी महात्माओं से योग की शिक्षा ग्रहण की। उनकी चणोद की यात्रा में स्वामी शिवानंद गिरि और ज्वालानंदपुरी से भेंट हुई। ये दोनों सिद्ध-योगी थे। इन्होंने महर्षि दयानंद को योग की क्रियाएं सिखला कर जाते समय उन्हें अहमदाबाद के दुग्धेश्वर मंदिर में मिलने हेतु कहा था। जहां पर निश्चित समय पर उपरोक्त दोनों योगियों ने स्वामी दयानंद को योगविद्या के रहस्यों की शिक्षा दी। उन्होंने योगविद्या के उपार्जन से सम्बन्धित इस घटना के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—

"योग विद्या की जो कुछ भी क्रियागत शिक्षा थी वह मैंने इन्हीं दोनों साधुओं से पाई और में इनके कृतज्ञतापाश में बद्ध रहा हूं।"

इसके अतिरिक्त योगविद्या की शिक्षा प्राप्त करते हुए और उसे क्रियात्मक रूप देते हुए भी अन्य ग्रन्थों का अध्ययन वे करते रहते थे।

महर्षि दयानंद की योग सिद्धियों का वर्णन करते हुए देवेन्द्रनाथ लिखते हैं—

"एक दिन सहजानंद ने देखा कि महर्षि पद्मासन लगाए जल पर ध्यानावस्थित है।" "कभी महर्षि लम्बी समाधि भी लगाया करते थे। समाधिस्थ होने से पूर्व वे सभी लोगों को कह दिया करते थे कि कल हमारी कोठरी के पास कोई न आए और न कोई द्वार खटखटाए।"

परन्तु सहजानंद खिड़की से महर्षि को योगारूढ़ अवस्था में देख लिया करते थे। महर्षि दयानंद ने योगसाधना के प्रारम्भिक काल में हठयोग के ग्रन्थों का अध्ययन किया था और हठयोग में वर्णित प्रक्रियों को क्रियान्वित रूप में देखने के लिए उन्होंने शव को चीर कर परीक्षा की जिससे उन ग्रन्थों में वर्णित तथ्यों को असत्य पाया। पुन विधिवत् योग सीखकर एवं साधना करके योग की सिद्धियों को प्राप्त किया और यह निष्कर्ष निकाला—

उसी समय से शनैः शनैः मैं यह परिणाम निकालता गया कि वेदों, उपनिषदो, पातजल और सांख्य शास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त पुस्तकें जो विज्ञान और योग पर लिखी गई हैं मिथ्या और अशुद्ध हैं।"

महर्षि दयानंद के जीवन के अध्ययन से यह विदित होता है कि उन्होंने यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग का जीवन मे अनुष्ठान किया था और वे सिद्ध योगी थे।

महर्षि दयानंद असूज 2 सं. 1913 को दुर्गाकुण्ड के मंदिर पर जो चण्डालगढ मे है, पहुंचे। यहां उन्होंने केवल दूध पर ही अपना निर्वाह किया और दिन रात योग विद्या के अध्ययन और योगाभ्यास में तत्पर रहे। उन्होंने आबूराज पर्वत, नर्बदा और भवानी आदि स्थानों में भवानीगिरि आदि योगियों से और संवत् 1911 के वर्ष के अंत मे हरिद्वार के कुम्भ के मेले के समय चण्डी के पहाड़ के जंगल में तथा मेले की समाप्ति पर ऋषिकेश में जाके सन्यासियों और योगियों से योग की रीति को सीखा।

महर्षि दयानंद द्वारा आत्मकथा में लिखित वृत्तान्तों से विदित होता है कि गृहत्याग त्याग से लेकर गुरु विरजानंद के समीप में पहुंचने से पूर्व तक के अन्तराल मे वे केवल शास्त्राध्ययन और योग-साधना में तल्लीन रहे। जिसका प्रभाव उनके जीवन की अनेक घटनाओं में दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने योगशास्त्र विषयक विशद् अध्ययन ओर योग की रीति को स्वजीवन में क्रियात्मकरूपेण अपनाने के फलस्वरूप ही योगदर्शन के दुरूह स्थलों को सरल एवं प्रामाणिक आधार प्रस्तुत किया है।

महर्षि दयानन्द अपने योग बल से भविष्य की घटनाओं को पहले ही जान लेते थे। हिमालय क्षेत्र में कई वर्षों तक साधना करना योग बल से ही संभव था। उन्होने कर्नल आल्काट को भी अपनी योग विषयक सिद्धियों की जानकारी दी थी परन्तु वे योग को आत्मिक उन्नति का परमसाधन मानते थे, दिखावे का नहीं। भयंकर सर्दी और तपती रेत में वे यौगिक क्रियाओं के द्वारा अपनी रक्षा करते थे। उन्होंने वैदिक उपासना का जो मार्ग बतलाया उसे अपनाकर मनुष्य अपनी जीवात्मा को उन्नत बनाकर 'ईश्वर' को प्राप्त कर सकता है।

❑

चतुर्थ अध्याय

महर्षि दयानन्द के साहित्य में योग

सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में महर्षि दयानंद ने समकालिक ग्रन्थों में विविध देवी-देवताओं के स्तवन एवं पार्थिव पूजन से मोक्ष प्राप्त हो जाने की तथाकथित अवधारणा की समालोचना करते हुए दर्शन शास्त्रों में मंगलाचरणात्मकरूपेण "अथ" शब्द के प्रयोग का उद्धरण प्रस्तुत किया है। क्योंकि समस्त वैदिक वाङ्मय में "ओ३म्" और "अथ" शब्दों का ही ग्रन्थारम्भ में प्रयोग है। अतः उसी आर्ष परम्परा का निर्वाह करते हुए योग दर्शन का निम्नांकित सूत्र प्रमाण रूपेण प्रस्तुत करते हैं—**अथयोगानुशासनम्** (यो. द. 1.1.1) "अथ" शब्द का मंगलाचरणात्मक रूपेण प्रयोग समीचीन है। जैसा कि षड्दर्शनकारों ने भी "अथ" शब्द से ही ग्रन्थारम्भ किया है। अथ शब्द यहां अधिकारवाचक है। जैसे व्याकरण महाभाष्य में भी "अथ शब्दानुशासनम्" सूत्र पर महर्षि पतंजलि ने लिखा है—अथेययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते और "अनुशिष्यतेऽनेनेत्यनुशासनम्" इस व्युत्पत्ति से 'अनुशासनम्' शब्द योगशास्त्र का पर्यायवाची है। योग शब्द युज् समाधौ (पाणिनीय धातु) धातु से सिद्ध होता है। सूत्र का आशय यह है—सम्पूर्ण योगशास्त्र का विषय योग समाधि का उपदेश करना हैं। क्योंकि इस सूत्र में महर्षि व्यास ने भी संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात द्विविध समाधि का निर्देश किया है। जिससे योग का लक्ष्य है—समाधि द्वारा मोक्ष की प्राप्ति।

वेद नित्यत्व

दयानन्द "वेद नित्यत्व" का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं "वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं। क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही हैं।" इसी सिद्धान्त को परिपुष्ट करते हुए उन्होंने निम्नलिखित सूत्र उद्धृत किया है—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् यो. द. 1.1.26

इस विषय में योगशास्त्र के कर्ता पंतजलिमुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं।

"जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे, उनसे लेके हम लोग पर्यन्त और हमसे आगे जो होनेवाले हैं, इन सबका गुरु परमेश्वर ही है, क्योंकि वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम "गुरु" है। सो ईश्वर नित्य ही है, क्योंकि ईश्वर मे क्षणादि काल की

गति का प्रचार ही नहीं है, और वह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उनकी वासनाओं से अलग है। जिसमें अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है, उसी के रचे वेदों का सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिए।"

यहां पतंजलिमुनिकृत महाभाष्य के आधार पर शब्द को नित्य सिद्ध करते हुए लिखा है—"सब शब्द नित्य हैं, क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं, और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं, उनका अभाव या आगम कभी नहीं होता।" उन्होंने शब्द को आकाश की भांति नित्य मानकर वेद का नित्यत्व सिद्ध किया है। महर्षि दयानंद "गुरुः" शब्द से ईश्वर का व्याख्यान करते हुय लिखते हैं—गृ शब्दे इस धातु से गुरु शब्द बना है। यो धर्म्यान् शब्दान् गुणानुपदिशति स गुरुः।"

सः एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (यो. द. 1.26) "जो सत्य धर्म प्रतिपादक, सकल विद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता, सृष्टि की आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु और जिसका नाश कभी नहीं होता इसलिए उस परमेश्वर का नाम गुरु है।" यहां गुरु को अविनाशी मानकर उसकी रचना को भी नित्य कहना सर्वथा युक्तिसंगत है।"

महर्षि दयानंद ईश्वरीय ज्ञान वेद के नित्यत्व का प्रतिपादन करते हुए सत्यार्थ-प्रकाश में भी अन्यत्र लिखते हैं—"जैसे वर्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़के ही विद्वान् होते हैं, वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अग्नि आदि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढानेहारा है। क्योंकि जैसे जीव सुषप्ति और प्रलय मे ज्ञानरहित हो जाते हैं, वैसा परमेश्वर नहीं होता। उसका ज्ञान नित्य है। इसलिए यह निश्चित जानना चाहिए कि बिना निमित्त से नैमित्तिक अर्थ कभी नहीं होता।"

उपासना

सत्यार्थ प्रकाश समु. 7, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना प्रकरण में महर्षि दयानंद लिखते हैं—"जब-जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब, तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करे तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले अन्तर्यामी अर्थात् सब मे व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर से अच्छी प्रकार से लगा कर, सम्यक् चिंतन करके उसमें अपने आत्मा को नियुक्त करें।" इन पंक्तियों में उन्होंने उपास्य, उपासक और उपासना का स्वरूप एवं विधि का संक्षिप्त उल्लेख किया है। वे ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को पृथक्-पृथक् वर्णित करते हुए स्वमंतव्यामंतव्य म लिखते हैं—

स्तुति—गुण कीर्तन, श्रवण और ज्ञान होना, इसका फल प्रीति आदि होते हैं।

प्रार्थना—अपने सामर्थ्य के उपरांत ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं उनके लिए ईश्वर से याचना करना और इसका फल निरभिमान आदि होता है।

उपासना—जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना, ईश्वर को सर्वव्यापक और अपने को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा साक्षात् करना उपासना कहाती है, इस का फल ज्ञान की उन्नति आदि है।"

स्तुति से प्रीति और प्रार्थना से निरभिमानता और उपासना से सर्वव्यापक ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभावादि को स्वयं में उपार्जित करके जीवात्मा का योगाभ्यास के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करना ही उपासना है। महर्षि दयानंद ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में "युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं" की व्याख्या करते हुए लिखते हैं "मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है इसलिए जो विद्वान् लोग हैं, वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासना रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते है। यही उपासना की योगसम्मत विधि है।"

सगुण व निर्गुण उपासना

"उपासना दो प्रकार की है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण। उनमें से "स पर्यगा॰" इस मंत्र के अर्थानुसार शुक्र अर्थात् जगत् का रचने वाला, वीर्यवान् तथा शुद्ध कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर "सगुण" है। और अकाय, अव्रण, अस्नाविर इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह 'निर्गुण' कहाता है। तथा "एको देव" एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण और निर्गुणश्च इसके कहने से निर्गुण समझा जाता है। तथा ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, शुद्ध सनातन, न्यायकारी, दयालु सबमें व्यापक सबका आधार, मंगलमय, सबकी उत्पत्ति करने वाला, और सबका स्वामी इत्यादि सत्य गुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को 'सगुणोपासना' कहते हैं। और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात् आकार वाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता, अव्रण, अर्थात् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द स्पर्श, रूप, रस और गंधवाला कभी नहीं होता, जिसमें दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लंबा चौड़ा और हल्का-भारी कभी नहीं होता इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को "निर्गुण उपासना" कहते हैं।"

"इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करने से सगुण और देह त्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उनकी कल्पना सब वेद शास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिए। किन्तु सबको पूर्वोक्त रीति से ही उपासना चाहिए।"

उपासना किस प्रकार से करनी चाहिए इसका विशेष वर्णन इस प्रकरण में महर्षि पतजलिमुनिकृत योगशास्त्र और वेदव्यास मुनि के लिखे भाष्य के प्रमाणों से निम्नलिखित प्रकार से किया है। सर्वप्रथम योगदर्शन के प्रथम सूत्र "योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः" का अवतरण करके लिखते हैं —"चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के, शुभ गुणों में स्थिर करके, परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं। और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फंस के उससे दूर हो जाना।" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उपासना विषयः)

"प्रकाशशीलं सत्त्वं क्रियाशीलं रजः स्थिति शीलं तमः (यो. द. व्यासभाष्य) "चित्त, सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से युक्त स्वभाव वाला त्रिगणी है। अतः तामस्, राजस् और सात्विक तीनों वृत्तियों के निरोध को उत्तम "योग" कहते हैं। इसमें निश्चित कैवल्य होता है।

महर्षि दयानन्द इस सूत्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं—"मनुष्य रजोगुण, तमोगुणयुक्त कर्मो से मन को रोक शुद्ध सत्वगुणयुक्त कर्मो से भी मन को रोक, शुरू मे सत्वगुणयुक्त हो, पश्चात् उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग में चित्त का ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना।" (सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास 9)

योग की परिभाषा और चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय करने के फल का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है, तब कहां पर स्थिर होती है? इसका उत्तर है—

तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् यो. द. 1.1.3

"जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांध के रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चल के कहीं स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। एक तो चित्त की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है।" (ऋ. भा. भू.)

महर्षि दयानन्द के योगदर्शन विषयक दार्शनिक सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में यह सूत्र पर्याप्त महत्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने इस सूत्र में पठित "द्रष्टः" का अर्थ "परमेश्वर" किया है जबकि योगदर्शन के अन्य भाष्यकारों ने द्रष्टः पद का अर्थ "जीवात्मा" किया है। यहां द्रष्टः पद का विशेष व्याख्यान करते हुए महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में लिखते हैं—

"यदा सर्वस्माद् व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते।

"जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है,, तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप मे जीवात्मा की स्थिति होती है।" यदि इस सूत्र में द्रष्टः पद का अर्थ ईश्वर ही माना

जाए तो उपास्य ईश्वर में, उपासक जीवात्मा की स्थिति चित्त की एकाग्रता के उपरान्त होनी सर्वथा संगत है। चित्त वृत्तियों की स्थिरता का विवेचन इस प्रकार से हुआ है–

प्रश्न–"जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटाके स्थिर की जाती है, तब कहां पर स्थिर होती हैं?

उत्तर–"जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांध के रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चल के कहीं स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है।"

इसका अभिप्राय है कि जलीय प्रवाहवत् मन की वृत्तियां बाहर से रुककर परमेश्वर में स्थिर हो जाती हैं यही चित्त-वृत्ति के निरोध का प्रयोजन है।

इस सूत्र में पठित "द्रष्ट" पद का विवेचन करते हुए आचार्य उदयवीर शास्त्री योगदर्शन के विद्योदय भाष्य में लिखते हैं–"मध्यकालिक एवं तदनुवर्ती आधुनिक आचार्यो ने सूत्र के द्रष्ट पद से द्रष्टा=जीवात्मा का ग्रहण कर उसकी स्वरूप में अवस्थिति बताकर सूत्रार्थ पूरा कर दिया है, पर वस्तुतः सूत्रार्थ का पर्यवसान आत्मा के मोक्षानुभव की सूचना पर समझना चाहिए, इस भावना के मूल में महर्षि दयानन्द ने अपने अनुभव के आधार पर सत्यार्थ-प्रकाश के अंतिम भाग में योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, तदा द्रष्टुस्वरूपे ऽवस्थानम् (1.2.3) इन दो सूत्रों का विवरण इस प्रकार दिया गया है–

"ये योगशास्त्र पांतजल के सूत्र हैं। मनुष्य रजोगुण, तमोगुणयुक्त कर्मो से भी मन को रोक शुद्ध सत्वगुणयुक्त कर्मो से उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग में चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध, अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना। 1. जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है। 2. इत्यादि साधन मुक्ति के लिए करे। प्रस्तुत सूत्र के द्रष्ट पद का अर्थ महर्षि दयानंद ने यहा जीवात्मा न कर "ईश्वर" किया है। समाधिलाभ से मोक्ष प्राप्ति को समस्त ऋषि-मुनियों एवं वैदिक आचार्यो ने स्वीकारा है। जीवात्मा उस आनन्द का अभिलाषी रहता है, वह परमात्मा सहयोग के बिना अप्राप्य है। ऋग्वेद (7.11.1) में बताया है–"न ऋते त्वदमृता मादयन्ते" अर्थात् "ईश्वर के बिना मुक्त आत्मा आनन्दित नहीं होते।" प्रस्तुत सूत्र के द्रष्ट पद का ईश्वर अर्थ समझने पर सूत्रकार पतजलि की यह भावना स्पष्ट अभिव्यक्त हो जाती है। अतः महर्षि दयानन्दकृत यह अर्थ समीचीन एवं सूत्रकार की मूलभावनाओं की अभिव्यक्ति करने से सर्वथा युक्तिसंगत है।

योगी पुरुष और साधारण मनुष्य की चित्त-वृत्तियां भिन्न-भिन्न प्रकार से आनन्द और दुःख को प्राप्त होती हैं। इसका वर्णन करते हुए महर्षि दयानन्द ने निम्नांकित सूत्र उद्धृत किया है ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में–

वृत्ति सारूप्यमितरत्र यो॰ द॰ 1.1.4

"उपासक योगी और सन्यासी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्ष, शोकरहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष, शोक रूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है। और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अंधकार में फंसती जाती है।"

वृत्ति का साधारण अर्थ है—व्यापार। चित्त का वृत्ति के साथ समवाय सम्बन्ध है और जीवात्मा चित्त से भिन्न किन्तु चित्त का स्वामी है। बाह्य वृत्ति के समय इन्द्रियों के बाह्य-विषय चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और अन्तर्मुखी होने पर बाह्येन्द्रियों से सम्पर्क न होने पर चित्त वृत्तियों का सम्पर्क परमात्मा से हो जाता है।

व्यास भाष्य में चित्त को अयस्कान्तमणि कहा गया है जो कि निरोध न किए जाने पर लोहे के सदृश बाह्य विषयों को अपने प्रति आकृष्ट करता है और जीवात्मा स्फटिक मणि की भांति शुद्ध है जो कि अपने समीपस्थ मन आदि के सदृश रंग वाला प्रतीत होता है। यही वृत्तिसारूप्य का भाव है। समस्त सांसारिक जीवों के मन में कौन-कौन सी प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं? उनके कितने भेद होते हैं? और किनके क्लेशादि की प्राप्ति किस प्रकार से होती है इसका वर्णन अग्रिम सूत्र में किया गया है—

वृत्तियां

कति वृत्तयः सन्ति कथं निरोधव्या इत्यत्राह—वृत्तियां कितनी हैं और उन्हें कैसे रोका जा सकता है?" इसका उत्तर है—

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः यो॰ द॰ 1.9.5

"सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसके दो भेद हैं—एक क्लिष्ट, दूसरी अक्लिष्ट, अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित।"

"उनमें से जिनकी वृत्ति विषयासक्त परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है उनकी वृत्ति अविद्यादि क्लेशरहित और जो पूर्वोक्त उपासक हैं उनकी क्लेशरहित शान्त होती है।" (ऋ॰ भा॰ भू॰ उपासना)

चित्त प्रकृतिजन्य होने से त्रिगुणात्मक है और चित्त का व्यापार ही वृत्ति कहलाता है। क्योंकि चित्त की बाह्यवृत्ति और अन्तर्वृत्ति दो प्रमुख अवस्थाएं हैं। अतः चित्त वृत्तियों के पांच भेद होते हुए भी क्लिष्ट अर्थात् क्लेशरहित और अक्लिष्ट अर्थात् क्लेशरहित दो ही प्रमुख भेद होते हैं। यहां महर्षि दयानंद का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि जो वृत्तियां मनुष्य को अज्ञान, अधर्म और अनीश्वरता, नास्तिकता की ओर ले जाती हैं वे क्लिष्ट हैं और जो सद्ज्ञान, धर्म और ईश्वर की ओर ही ले जाने वाली हैं, वे अक्लिष्ट हैं।

वृत्तियों के प्रकार

वे पांच वृत्तियां कौन-कौन सी हैं उनकी परिगणना करते हेतु महर्षि दयानन्द अग्रिम सूत्र उद्धृत करते हैं

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः यो. द. 1.1.6

"पहिली प्रमाण दूसरी विपर्यय तीसरी विकल्प चौथी निद्रा और पांचमी स्मृति।"

सूत्रकार ने उपरोक्त पांच वृत्तियों को इसी अध्याय के सूत्र 7 से 11 तक उल्लिखित किया है। महर्षि दयानन्द ने पांचों वृत्तियों का ससूत्र विश्लेषण निम्नलिखित प्रकार से किया है--

प्रमाण

प्रथमवृत्ति प्रमाण के विवेचनार्थ के सूत्र उद्धृत करते हैं--

तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि यो. द. 1.1.7

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के होम प्रकरण में उपरोक्त प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द) प्रमाण का विवेचन न्याय दर्शन के आधार पर किया है--"उनके वृत्तियों के विभाग और लक्षण ये हैं--

प्रत्यक्ष

"उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के संबंध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो। जैसे दूर से देखने में संदेह हुआ कि यह मनुष्य ही है अन्य नहीं, इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं।"

अनुमान

"जो किसी पदार्थ के चिन्ह देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो वह अनुमान कहाता है। जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इसके माता-पिता आदि हैं, वे अवश्य थे, इत्यादि इसके उदाहरण हैं।"

आगम

"जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय कराने वाला है। जैसे ज्ञान से मोक्ष होता है। यह आप्तों के उपदेश शब्द (आप्त) प्रमाण का उदाहरण है।"

विपर्यय

तृतीय वृत्ति का वर्णन करते हुए पातंजल योगदर्शन का सूत्र उद्धृत करते हैं--

विपर्ययोमिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् (यो. द. 1.1.8)

दूसरी वृत्ति, विपर्यय कि जिससे मिथ्या ज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न जानना

अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना, इसको विपर्यय कहते हैं।"

मिथ्याज्ञान ही विपर्यय कहलाता है। यह वह चित्तवृत्ति है जो पुरोवर्ती के रूप में प्रतिष्ठित नहीं होती। अन्धकारादिदोष के कारणवश पुरोवर्ती रज्जु में सर्प की प्रतीति विपर्यय है। इसी प्रकार देह-इन्द्रियादि को ही आत्मा समझकर आत्मबुद्धि से अनात्मतत्वों की तुष्टि में लगे रहना अध्यात्म मार्ग में वांछित लक्ष्य की प्रतिपूर्ति में बाधक है। विपर्यय अथवा मिथ्याज्ञान को ही योग-दर्शन में "अविद्या" नाम से निरूपण किया गया है। विपर्यय की निवृत्ति यथार्थज्ञान से होती है।

विकल्प

शब्द ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः यो. द. 1.1.9

"जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे। इस बात को सुन के कोई मनुष्य निश्चय कर ले कि ठीक है सींग वाले मनुष्य भी होते होंगे। ऐसी वृत्ति को "विकल्प" कहते हैं। सो झूठी बात है अर्थात् जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके, इसी से इसका नाम "विकल्प" है।" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उपासना)

महर्षि दयानन्द ने उपरोक्त सूत्र की व्याख्या व्यासभाष्य के आधार पर न करके एक मौलिक उदाहरण प्रस्तुत करके की है—जिसका अभिप्राय है कि विकल्प वृत्ति प्रमाणवृत्ति के अन्तर्गत नहीं है क्योंकि विपर्यय वृत्ति में रज्जु में सर्प का भ्रम दूर होने पर भ्रांति समाप्त हो जाती है परन्तु विकल्प वृत्ति में वस्तु के न होने पर भी शब्दजनित ज्ञान के प्रभाव से युक्त व्यवहार देखा जाता है। उपरोक्त उदाहरण में सींग वाले मनुष्य का होना असंभव है परन्तु पुनरपि किसी व्यक्ति के यह कहने पर कि उसने एक देश में आदमी के शिर पर सींग देखे थे इससे सुनने का शब्दजनित ज्ञान के प्रभाव से यह निश्चय कर लेना कि सींग वाले मनुष्य भी होते होंगे "विकल्प" कहलाती है।

निद्रा

अभावप्रत्ययलम्बना वृत्तिर्निद्रा यो. द. 1.1.10

महर्षि दयानन्द इस सूत्र के अर्थ में लिखते हैं—जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अंधकार में फंसी हो, उस वृत्ति का नाम निद्रा है।"

चित्तवृत्तियों के इस प्रसंग में निद्रा का विशेष महत्व है अतः सूत्रकार ने इस प्रसंग में वृत्ति शब्द का प्रयोग केवलमात्र इसी सूत्र के साथ किया है। महर्षि दयानन्द ने उपरोक्त पंक्तियों में निद्रा को अज्ञान और अंधकार से आवृत्त बताया है। निद्रा एक तमोगुण प्रधान वृत्ति है जो कि योगाभ्यास के मार्ग में प्रबल बाधा है। अतः इसका निरोध अत्यावश्यक है।

सत्यार्थ प्रकाश के नवम् समुल्लास में नित्यप्रति परमात्मा का योगाभ्यास द्वारा

ध्यान करने के समय का निरूपण करते हुए स्वामी दयानंद लिखते हैं–

"मुमुक्ष को न्यून से न्यून प्रति दो घंटा ध्यान अवश्य करना चाहिए।"

यदि कोई अधिक करना चाहे तो अधिक भी कर सकता है। परन्तु 24 घंटे योगाभ्यास करना आवश्यक नहीं। जो लोग 24 घंटे निद्रा को जीतना समाधि के लिए आवश्यक मानते हैं, वे योग के स्वरूप को नहीं जानते। आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं। इनके बिना व्यक्ति रोगी होकर योगाभ्यास योग्य नहीं रहता।"इसलिए ठीक समय पर निद्रारहित होकर योगाभ्यास करना ही निद्रा का जीतना है। निद्रावृत्ति तमोगुण प्रधान है और समाधि में सतोगुण का प्राधान्य होता है निद्रा वृत्ति में इन्द्रियजन्य ज्ञानरहित होने से आत्मा तमोगुण के आवरण से आच्छादित रहती है अतः योगी को तमोगुणी अवस्था से बचने के लिए निद्रा का भी निरोध करना चाहिए।"

स्मृति

अनुभूत विषयासंप्रमोषः स्मृतिः यो. द. 1.1.11

"पांचवीं स्मृति (अनुभूत) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता है। और उस विषय को (अप्रमोष) भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को 'स्मृति' कहते हैं।"

किसी मनुष्य द्वारा अनुभूत विषय का ज्ञान उस व्यक्ति के पास रहता है और विषयानुभूति के पश्चात् पुनः उस निमित्त के उपस्थित होने पर संस्कार उद्‌भूत होते हैं जो उस विषय का स्मरण करा देते हैं। इसी चित्तवृत्ति को "स्मृति" कहा जाता है। स्मृति का विषय सदा अनुभूत होता है। किसी निमित्तवश संस्कारों के न रहने से उस विषय की भी विस्मृति हो जाती है।

महर्षि दयानंद ने योगसूत्र प्रतिपादित चित्त की प्रमाणादि वृत्तियों का संक्षिप्ततया उल्लेख किया है। इसके अनुसार समस्त वृत्तियां त्रिगुणात्मक होने से त्याज्य हैं क्योंकि त्रिगुण सुख-दुःख-मोहस्वरूप हैं। आत्मा त्रिगुणातीत अर्थात् त्रिगुणरहित है और त्रिगुणात्मक प्रकृति के सम्पर्क में आत्मा, राग, द्वेष, अविद्या आदि क्लेशों से त्रस्त रहता है। अतः इन वृत्तियों के निरोध का उपाय आवश्यक है। चित्त वृत्तियां सात्विक होने से उपासक को आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर करती है। समाधिस्थ होने पर ये वृत्तिया समाप्त हो जाती हैं। तभी योगी ब्रह्मानंद का अनुभव करता है। आत्मा का प्रकृति से सपर्क टूट जाने के उपरान्त आत्मा का चित्त-वृत्तियों के साथ कोई भी सम्बन्ध नही रहता।

वृत्तियों के निरोध का उपाय

इस प्रकार योग की परिभाषा में पठित पद "वृत्तिनिरोध" का विवरण प्रस्तुत

करते हुए उपरोक्त सूत्रों में प्रमाणादि वृत्तियों की विवेचना की है और अब उन वृत्तियो का आध्यात्मिक मार्ग में निरोध अत्यावश्यक जान कर उनका उपाय बताता हुआ सूत्रकार कहता है--**अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः** अर्थात्, "अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त वृत्तियों का निरोध किया जाता है।"

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना प्रकरणान्तर्गत महर्षि दयानंद चित्तवृत्तियों का ससूत्र निरूपण करने के उपरांत उनके निरोध का उपाय करने के संबंध में लिखते है --"इन (उपरोक्त) पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का क्या उपाय है"

अभ्यास वैराभ्यां तन्निरोधः यो. द. 1.1.12

"अभ्यास" और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहे। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांच वृत्तियों को रोक के उनको उपासना योग में प्रवृत्त रखना।" योगदर्शन के उपरोक्त सूत्र के आधार पर ही महर्षि दयानन्द ने पूर्वोक्त प्रमाणादि पाचवृत्तियों के निरोध का उपाय अभ्यास और वैराग्य का कहा है। क्योंकि चित्त की वृत्तियां त्रिगुणात्मक होने से सुख, दुःख, मोहस्वरूप हैं। इन वृत्तियों के सम्पर्क से जीवात्मा राग, द्वेप और मोह से ग्रसित रहता है और रागादि क्लेशों के मूलकारण होने से परित्याज्य हैं। इसलिए समाधि की सिद्धि के लिए इनका निरोध आवश्यक है। उसी का उपाय उपरोक्त सूत्र में अभ्यास और वैराग्य के द्वारा निर्दिष्ट है।

उपासना प्रकरण में ईश्वर की उपासना के लिए अभ्यास करने की विधि के संबध मे महर्षि दयानन्द यजुर्वेद के (12.68) वेदमंत्र की व्याख्या में लिखते हैं--

"हे उपासक लोगो! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द का विस्तार करो। इस प्रकार करने से योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानंद स्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके, उसमें उपासना विधान से विज्ञान रूप बीज को अच्छी प्रकार से बोओ। तथा पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में युक्त होकर उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो। तथा तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासना योग के फल को प्राप्त होवें और हमको ईश्वर के अनुग्रह से वह फल निकट ही प्राप्त हो। कैसा वह फल है? कि जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ है और मोक्ष सुख को प्राप्त करने वाला है। अर्थात् वह उपासना योगवृत्ति कैसी है? कि सब क्लेशों को नाश करने वाली और सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है। उन उपासना योग वृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा मे प्रकाशित करो।"

यहां अभ्यास के समय उपासक की उपास्य के प्रति कैसी भावनाएं होनी चाहिए और इस प्रकार उपासना करने से क्लेशों का नाश होकर परमात्मा से कैसे योग होता है इसका संक्षिप्त उल्लेख है। अतः अभ्यास अधिक अपेक्षित है क्योंकि अभ्यास से ही चित्तवृत्तियों के निरोध मे अधिक सफलता मिलती है। अभ्यास से इन्द्रियों और मन

को वश में करके चित्त की वृत्तियां निरुद्ध हो जाने से चित्त शांत हो जाता है। चित्त के उत्साहित होने पर ही उपासना में प्रवृत्त होना चाहिए और उस अवस्था में योगाभ्यास किस रीति से करना चाहिए इस संदर्भ में महर्षि दयानंद लिखते है–

"जब-जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब-तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर, अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करे। तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले अन्तर्यामी अर्थात् सबमें व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छी प्रकार से लगाकर, सम्यक् चिन्तन करके, उसमें अपने आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना को बारम्बार करके, अपने आत्मा को भलीभांति से उसमें लगा दें।"

इस प्रकार अनवरत अभ्यासरत होने से चित्त स्थिर हो जाता है। रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियां प्रभावहीन होकर सत्वगुण को संवर्धित करती हैं। जिससे कि मन की चंचलता समाप्त हो जाती है। इसी अवस्था का नाम "स्थिति" है। इसी स्थिति को निरन्तर बनाए रखने के लिए सुदृढ़ इच्छा के साथ प्रयत्न करना ही "अभ्यास" है जिससे उस स्थिति में शिथिलता न आ सके। उस स्थिति का वर्णन करने के उद्देश्य से महर्षि पतंजलि अभ्यास की परिभाषा करते हुए लिखते हैं–

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः "उन अभ्यास और वैराग्य में से चित्त की स्थिरता के निमित्त जो प्रयत्न चित्त परिक्रमा का उत्साह से अनुष्ठान करना है, वह अभ्यास है।"

दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् अर्थात् "दृष्ट=नेत्रादि इन्द्रियों से साक्षात् किए हुए विषयों से और आनुश्रविक-वेदादि शास्त्रों में पढ़े अथवा शास्त्रज्ञ-आचार्यों से सुने गए पारलौकिक तथा अतीन्द्रिय विषयों से वितृष्णा=वासनारहित चित्त की वशीकार संज्ञा=विषयों में अनासक्ति वैराग्य है।"

अभ्यास और वैराग्य दोनों ही चित्तवृत्ति निरोध के उपाय कहे गए हैं। वृत्तिरहित चित्त का स्वरूपनिष्ठ परिणाम में स्थिति के लिए उत्साहपूर्वक यत्न करना और पुनः पुनः वृत्ति का चित्त में प्रवेश करने का प्रयत्न अभ्यास कहलाता है और दीर्घकाल तक अभ्यास से योग की दृढ़भूमि निर्मित होती है। विषय मेरे वश में है मैं अनासक्त हूं यही वितृष्णा वैराग्य है। अभ्यास के द्वारा चित्त की अन्तर्वृत्तियों को रोका जाता है और वैराग्य के द्वारा बाह्य विषयों को नियन्त्रण में लाया जाता है।

इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य से चित्त वृत्तियों का निरोध करके पुरुष सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करता है। समाधि की सिद्धि के लिए योगाभ्यासी द्वारा मृदु, मध्य, और अधिमात्र इन तीनों में से किसी भी स्तर पर अत्यधिक काल अथवा सबापेक्षा अल्पकाल में प्रयत्न करने पर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। यह मार्ग अत्यन्त कठिन विपुल बाधाओं से भरा तथा जन्म-जन्मांतरों के प्रयत्न से साध्य होता है। निराशा और उत्साहहीनता सिद्धि के प्रबल शत्रु हैं। इसी भावना को ऋषियों एवं आध्यात्मिक उपदेष्टाओं ने अनेकत्र अभिव्यक्त किया है। समीपकाल की सिद्धि प्राप्त करने के लिए

उपाय बताते हुए कहता है उस सूत्र का महर्षि दयानन्द ऋ मा भू म) इस प्रकार उद्धृत करते है

ईश्वरप्रणिधानाद्वा यो. द. 1.1.23

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्तितं ईश्वरस्तमनुगृहणात्यभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादीप योगिनः आसन्नतमः समाधि लाभफलंच भवतीति। "ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके, मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है।"

यहां ईश्वर प्रणिधान को समाधि के योग होने का साधन बताया गया है। ईश्वर प्रणिधान अपेक्षाकृत अल्पकाल में होने वाले चित्तवृत्तिनिरोध अथवा समाधिसिद्ध लाभ के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय है। ईश्वर का लक्षण अग्रिम सूत्र में कथित है और प्रणिधान पद का अभिप्राय है—"सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव स आत्मादि द्रव्यों का ईश्वर के लिए समर्पण करना। अर्थात्, अनन्य चित्त होकर पूर्णभक्तिभाव से आत्मसमर्पणपूर्वक उपासना करना।" वस्तुतः उपासक जब सर्वात्मना ससार से विरक्त होकर समस्त भावनाओं को भगवान में निहित कर देता है तब व्युत्थान भूमि की चित्त वृत्तियों के उद्भव की संभावना नहीं रहती। इसी को प्रभु का प्रसाद भी कहा गया है क्योंकि उस अवस्था में ईश्वर अभिध्यान अर्थात्, संकल्प-मात्र से भक्त के अभिलषित को सिद्ध कर देता है। उपासक द्वारा अपने आपको प्रकृष्ट व प्राणवरूप ईश्वर में सन्निहित कर देने का ही भाव 'प्रणिधान' पद से अभिव्यक्त है।

महर्षि दयानंद का भी यहां यही मन्तव्य है कि ईश्वर में विशेष भक्ति होने से, ईश्वरीय अनुकम्पा होने से मन की मलिनताएं नष्ट हो जाती है और मनुष्य शीघ्र ही समाधि योग को प्राप्त कर लेता है। इस सूत्र में शीघ्र समाधियोग को प्रणिधान के द्वारा प्राप्त कर लेने का वर्णन करके अग्रिम सूत्र में उस ईश्वर के लक्षण का उल्लेख है।

ईश्वर

अथप्रधानपुरुष व्यतिरिक्तः को ऽयमीश्वरो नामेति अर्थात् यह ईश्वर कौन है जिसके प्रणिधान से शीघ्र समाधियोग प्राप्त हो जाता है। ईश्वर के लक्षण के प्रतिपादनार्थ महर्षि दयानन्द पातंजल योगदर्शन का निम्नलिखित सूत्र उद्धृत करते है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः

इस सूत्र के विशेष व्याख्यान के लिए व्यासभाष्य को उद्धृत करते हैं—अविद्यादय क्लेशाः कुशलाकुशलानि कर्माणि तत्फलं विपाकस्तदनुगुणा वासना, आशयाः, ते च मनसि वर्तमानः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, सहि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यसे। यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुष विशेष ईश्वरः।"(ऋ. भा. भू.)

"जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो-जो वासना इन सब से जो सदा अलग और बन्धरहित है, उसी पूर्णपुरुष को "ईश्वर" कहते हैं। फिर वह कैसा

:? जिससे अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं तथा जो सदा आनंदस्वरूप र्वशक्तिमान है, उसी को "ईश्वर" कहते है। जो अविद्यादि क्लेश, कुशल, अकुशल, प्ट, अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित है, वह सब जीवों से वेशेष कहाता है।"

"अविद्यादि क्लेशों और शुभाशुभ कर्मों के फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुलना में से रहित पुरुष परमेश्वर कहाता है।" (वेदविरुद्धमतखण्डन)

योगदर्शन में लिखित या ईश्वर के लक्षण विषयक सूत्र की व्याख्या महर्षि दयानन्द ने अपने तीनों दार्शनिक ग्रन्थों ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थ प्रकाश और वेदविरुद्धमत खण्डन में विभिन्न सन्दर्भो में की है। जिसमें ईश्वर व जीव में भेद स्पष्टतया उल्लिखित है। जीव उपासक हैं और ईश्वर उपास्य तथा योगाभ्यास अर्थात् उपासना ईश्वर प्राप्ति का साधन है।

इस सूत्र का सामान्य अर्थ है—क्लेश, कर्म, विपाक और आशयों से असंपृक्त अर्थात् अछूता विशेष चेतन तत्व ईश्वर है। महर्षि दयानन्द ने उपरोक्त व्याख्याओं में ईश्वर को "पूर्ण पुरुष" "जीवों से विशेष" और "अविद्यादि क्लेशों तथा कर्मो के शुभाशुभ फलों से रहित" आदि विशेषणों से वर्णित किया है। यहां यह ध्यातव्य है कि सांख्य-योग में तीनों अनादि तत्वों ईश्वर, जीव और प्रकृति के लिए शास्त्रीय विवरणों में चेतन और जड़ पदों का प्रयोग हुआ है। इनमें "पुरुष" पद से चेतनतत्व ईश्वर और जीव तथा प्रकृति पद से जड़तत्व की अभिव्यक्ति होती है। मानव, पशु, पक्षी, कृमि, कीटादि के शरीरों में एक दूसरे से पृथक् विद्यमान साधारण चेतनतत्व "पुरुष" है। इनसे अतिरिक्त एक विशेष अर्थात् असाधारण चेतन है जो ईश्वर" कहलाता है। पुरुष की अल्पज्ञता ईश्वर की सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्तादि विभिन्न गुणों से ईश्वर को पुरुष विशेष कहा गया है जिसे महर्षि दयानंद ने "पूर्ण पुरुष" पद से अभिहित किया है।

ईश्वर, उपादान जड़तत्व प्रकृति से जीवात्माओं के लिए संसार को रचता है जिसमें चेतनतत्व जीवात्मा कर्मानुष्ठान करने और उनका फल भोगने के लिए शरीरादि के द्वारा प्रकृति के सम्पर्क में आकर अविद्या विद्या-जनित शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप सुख-दुःख को भोगते हैं। जिससे पुरुष (जीवात्मा) क्लेशादि में फंसा रहता है। कर्म अर्थात् जीवात्मा द्वारा देहबंधन में आकर पुण्य-पाप के रूप में सुख-दुःख की प्राप्ति के लिए किए गए कार्य।

विपाक—उन्हीं कर्मों के फलों का परिणाम है जो कर्मकर्ता को सुख-दुःख के रूप में प्राप्त होते हैं। कर्मफल के भोगे जाने पर्यन्त पूर्वकृत कर्मों के संस्कारों का आत्मा में बने रहना ही आशय कहलाता है। उपरोक्त क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अस्पृष्ट जो पुरुष विशेष अर्थात् पूर्णपुरुष है वही ईश्वर है। इस प्रकार इस सूत्र में महर्षि दयानन्द ईश्वरीय गुणों का प्रतिपादन करके उसे सृष्टिकर्ता व कर्मफल प्रदाता तथा पुरुष विशेष मानते हैं।

विश्वनियन्ता के रूप मे इश्वर ही स्वीकार्य है इसकी पुष्टि मे महर्षि पतंजलि लिखते हैं

तत्र निरतिशय सर्वज्ञ बीजम् यो. द. 1.1.25

"जिसमें नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है वही ईश्वर है जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं। और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है, इसलिए सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिए सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें।"

प्रकृत सूत्र में निरतिशयम् और सर्वज्ञबीजम् दो पदों से ईश्वर को सर्वोत्कृष्ट बताकर जीव से उसकी भिन्नता का प्रतिपादन किया है। विश्व की उत्पत्ति. स्थिति और प्रलय का नियन्ता, वही सर्वोत्कृष्ट, सर्वज्ञता का मूलाधार ईश्वर है। क्योंकि अल्पज्ञ, अल्पशक्ति जीवात्मा की इस प्रकार की उत्कृष्टता सर्वथा असम्भव है। अतः सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता ईश्वर का स्वीकार करना पूर्णतया प्रामाणिक एव असंदिग्ध है।

इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने ईश्वर को नित्य, सर्वज्ञ, ज्ञानादि अनन्तगुणों से युक्त और सर्वसामर्थ्यवान् कहकर उसे सर्वोत्कृष्ट माना है और यह भी कहा है कि सब जीव अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहे। क्योंकि वह ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है, उसने सर्ग के आदि में वेदादि सत्यछास्त्रो का उपदेश किया। इसी भाव को आचार्य सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र में कहा है—

सः एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् यो. द. 1.1.26

इस सूत्र को उपासनाप्रकरण में व्यासभाष्यसहित उद्धृत करते हैं व्यासभाष्यम्--पूर्वेहि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते। यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथा अस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथाऽतिक्रान्त सर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः। "हमारे पूर्ववर्ती गुरु तो काल से अविछिन्न=नष्ट हो जाते हैं। जिस ईश्वर मे अवच्छेदार्थक=नाश का हेतु काल उपस्थित नहीं होता, वह यह ईश्वर पूर्वज ऋषि महर्षियों का भी गुरु=ज्ञान धर्म का उपदेष्टा है। जैसे इस सृष्टि के आदि में प्रकृष्ट ज्ञानादि के कारण सिद्ध है वैसे ही विगत सृष्टियों में भी जानना चाहिए। इसका अभिप्राय है कि यह ईश्वर अशरीर रहता हुआ सर्वशक्तिमत्ता से आदि ऋषियों के आत्मा में वेदज्ञान को अभिव्यक्त करता है। काल की सीमा उस पर कोई प्रभाव नही रखती।

इस प्रकार वह पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु माना जाता है—"अतः उसका उपदेश सार्वकालिक होता है।"

यः पूर्वेषां सृष्ट्यादावुत्पन्नानामग्वाय्वादित्यंगिरो ब्रह्मादीनां"(स एष) जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे, उनसे ले के हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं, उन सब का गुरु परमेश्वर ही है, क्योंकि वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का

नाम गुरु मा श्वर नित्य ह क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है

यहां महर्षि दयानन्द ने ईश्वर को "वेद" ज्ञान का प्रदाता, गुरु नित्य और काल के द्वारा अवच्छिन्न अर्थात् सीमित न होने वाला कहा है। उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश के प्रथम समुल्लास में ईश्वर के सौ नामों की व्याख्या में ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव का वर्णन किया है। उपरोक्त सूत्रों में ईश्वर के लक्षण को प्रतिपादित करके सूत्रकार अग्रिम सूत्र में ईश्वर के सर्वोत्कृष्ट नाम ओ3म् जिसे प्रकृत सूत्र में प्रणव कहा गया है, का ईश्वर के वाचक के रूप में कथन करता है। क्योंकि ईश्वर के अन्य नाम किसी एक ही विशेष प्रकार के गुण, कर्म या स्वभाव के बोधक है अतः यहां उपासक एक ऐसे नाम की अपेक्षा रखता है जिसमें समस्त ईश्वरीय गुणों का सन्निवेश हो। वैदिक वाङ्मय में अनेकत्र प्रणव को ही ईश्वर का मुख्य नाम कहा गया है।

प्रणव पद की व्युत्पत्ति करते हुए महर्षि दयानन्द की भी यही मान्यता है। सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में लिखते हैं–"प्रणव-पद उपसर्ग णु–स्तुतौ धातु से निष्पन्न होता है। जिस पद द्वारा प्रकृष्ट-रूप से परमात्मा की स्तुति की जाय, उस पर को प्रणव कहते हैं ऐसा वह पद "ओ3म्" है।" अतः महर्षि दयानन्द ईश्वर का लक्षण का वर्णन करके उसके वाचक प्रणव का निरूपण करने एवं उसकी भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिए, इसके निमित्त से योगदर्शन का अग्रिम सूत्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उद्धृत करते हैं–

तस्य वाचकः प्रणवः यो. द. 1.1.27

"जो परमेश्वर का ओंकार नाम है सो पिता-पुत्र के संबंध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़ के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं उनमें से ओंकार सब से उत्तम नाम है।" सत्यार्थ-प्रकाश के प्रथम समुल्लास में प्रणव की विशेष व्याख्या करते हुए लिखते हैं–

"ओ3म् यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। क्योंकि इसमें जो अ उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक ओ3म् समुदाय बना है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं। जैसे अकार से विराट् अग्नि और विश्वादि। उकार से–हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि। मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है। ओ3म् की प्रणव के रूप में सिद्धि का प्रतिपादन करते हुए वे शास्त्रप्रामाण्य का आधार प्रस्तुत करते हैं। "सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम (ओ3म्) को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं। परमात्मा के ब्रह्म, सर्वज्ञ, निराकारादि नाम निज प्रवृत्ति निमित्त के अनुसार ईश्वर की किसी एक विशेषता को अभिव्यक्त करते हैं। इसके विपरीत ईश्वर का "ओ3म्" नाम उसके पूर्ण-स्वरूप का अभिव्यक्ति करता है और अन्य किसी तत्व के लिए सर्वथा अप्रयुक्त है। शास्त्रकारों ने ईश्वर को सत्, चित् आनन्दस्वरूप कहा है। ईश्वर का यह मौलिक द

पूर्णरूप ओ3म् पद के विभाजित तीन वर्णो से बाधित व अभिव्यक्त होता है अकार से आनन्द उकार से चित्त और मकार से सत् का बोध होता है ओ3म् ईश्वर का वाचक और ईश्वर उसका वाच्य है ओ3म् नाम और ईश्वर नामी है ओ3म् अभिधान और ईश्वर अभिधेय है ओ3म् पद और ईश्वर का संबंध संकेतजन्य नही अपितु नित्य है। जैसे—"यह इसका पिता और यह इसका पुत्र है" यह संकेत कथन पिता-पुत्र के संबंध को उत्पन्न नहीं करता प्रत्युत पहले से विद्यमान संबंध को प्रकट मात्र करता है। वैसे ही वाचक प्रणव और वाच्य ईश्वर का नित्य सम्बन्ध है। अत प्रणव ही ईश्वर का वाचक है। उपासक योगी जब ईश्वर और प्रणव के वाच्य-वाचक संबंध को जान लेता है तब वाचक पद के द्वारा वाच्य के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास करता है, यही ईश्वर प्रणिधान है। सूत्रकार निर्देश करता है—

तज्जपस्तदर्थ भावनम् यो. द. 1.1.28

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्यचेश्वरस्य भावना। तदस्य योगिनः प्रणवं जपत प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते। "इसी प्रणव नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ-विचार सदा करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो। जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेम-भक्ति सदा बढ़ती जाय।" यहां "तत्" पद से प्रणव के ग्रहण ओ3म् का जप करना। अर्थात् ओ3म् का जप करते समय उस के अर्थ का भावन चिंतन अवश्य करते रहना चाहिए। जप किस स्थान पर और कैसे करना चाहिए इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द का कथन है—"जंगल में अर्थात् एकान्तदेश में जा सावधान होके जल के समीप स्थित होके नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मंत्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करें, परन्तु यह मन से करना उत्तम है।"

सत्यार्थ प्रकाश की उपरोक्त पंक्तियों में महर्षि दयानन्द ने एकान्त स्थान में जप करने के साथ-साथ गायत्री मंत्र के उच्चारण तथा अर्थसहित ज्ञान और उस ज्ञान के ही अनुकूल आचार व्यवहार को बनाने तथा इस सारी क्रिया का अनुष्ठान मन से अर्थात् मानसिक रूप से करने को कहा है। यहां प्रणव के जाप का अभिप्राय है "ओ3म्" का निरन्तर मानसिक उच्चारण, जिसमें वाक् इन्द्रिय का काम व्यापार नहीं नितान्त होना चाहिये। प्रणव की मानसिक परिकल्पना के साथ प्रणव के अर्थ का चिन्तन करते रहना क्योंकि प्रणव का वाच्य है ईश्वर। अतः उसके स्वरूप में ध्यान से विचलित न होने देना ही उसका चिन्तन है। यद्यपि इस चिन्तन की प्रारम्भिक अवस्था मे एकाग्रता को प्राप्त करना पर्याप्त कठिन है पुनरपि ओ3म् के जप से चित्त को परमात्मस्वरूप में एकाग्र करके अपेक्षित सफलता प्राप्त हो जाती है।

ओ3म् का जप श्वास-प्रश्वास की गति के साथ किया जाना चाहिए। समस्त वैदिक वाङ्मय में ओ3म् के जाप को इन्द्रिय-व्यापार से शून्य होकर मन से ही करने का वर्णन

है। महर्षि दयानन्द ने प्रणव जप के साथ गायत्री मंत्र के उच्चारण और अर्थज्ञान का भी विधान किया है। गायत्री का अधिकाधिक जप करने से चित्तभूमि योगाभ्यास के लिए उर्वरा बन जाती है। इस चित्तभूमि से राग, द्वेष, क्रोध मोहादि की निवृत्ति हो जाती है। अतः प्रणव के जप से पूर्व योगाभ्यासी को गायत्री का अनुष्ठान करना चाहिए। ईश्वर के वाचक प्रणव का विधिपूर्वक जप करने से आत्म साक्षात्कार हो जाता है। ईश्वर के स्वरूप उसके वाचक प्रणव की जप की विधि आदि का वर्णन करके सूत्रकार क्रमशः प्रणव के जप के फल का उल्लेख इस प्रकार करता है—

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायभावश्च यो. द. 1.1.29

फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है"। अर्थात् "उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति, और (अन्तराय) उसके अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है।" (ऋ. भा. भू.)

इस सूत्र में प्रणव जप के मुख्यतया दो ही फल बताए गए हैं। 1. अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और 2. अन्तराय-विघ्न-बाधाओं का नाश। इसका अभिप्राय है कि प्रणव के जप और उसके अर्थ की भावनारूप ईश्वर प्रणिधान से ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है तथा ईश्वर का साक्षात्कार होने में जिन विघ्न बाधाओं की सम्भावना बनी रहती है, उनका भी अभाव हो जाता है।

महर्षि दयानंद ने यहां "प्रत्यक्-चेतन" का अर्थ अन्तर्यामी 'ईश्वर' किया है जबकि व्यासभाष्य में इसका अर्थ जीवात्मा है जिससे प्रणव जप के फलस्वरूप स्वरूप दर्शन हो जाता है। यहां ईश्वर व जीवात्मा दोनों के अर्थ का ग्रहण किया जाना संगत है। क्योंकि इस सूत्र में ओंकार के जप का फल बताया गया है। ओंकार के जप तथा तदर्थभाव से ओ३म् का ही साक्षात्कार होना चाहिये और क्योंकि परमेश्वर की उपासना करता हुआ जीवात्मा भी शुद्ध हो जाता है जीवात्मा की यही अवस्था आत्मसाक्षात्कार अर्थात् स्वरूप दर्शन कहलाती है जीवात्मा के अपने स्वरूप को जानने का अभिप्राय है कि ईश्वर प्रणिधान से स्वरूपदर्शन अर्थात् आत्मस्वरूप का बोध होना। इस प्रकार प्रणव के जप के फलस्वरूप जीवात्मा को ईश्वर का साक्षात्कार और स्वरूप दर्शन हो जाता है। इस अवस्था में उस का प्रकृति के साथ सम्पर्क टूट जाता है। अतः ईश्वर प्रणिधान को आत्म-साक्षात्कार विषयक पूर्ण एवं अंतिम सफलता का प्रधान साधन समझना चाहिए। ईश्वर प्रणिधान का दूसरा फल "अन्तरायों का अभाव" है। समाधि लाभ में विघ्नरूप से उपस्थित होने वाले वे अन्तराय क्या हैं? उनके वर्णन हेतु महर्षि दयानन्द योग दर्शन का अग्रिम सूत्र उद्धृत करते हुए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं—

अन्तराय

अथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विक्षेपकाः? के पुनस्ते कियन्तो वेति। चित्त को विक्षिप्त करने वाले (योग के) विघ्न कौन से हैं? और वे कितने हैं

व्याधिस्त्यान संशय

या द 1 1.30

व विघ्न नौ प्रकार के हैं

व्याधि–धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना।

स्त्यान–सत्य कर्मों में अप्रीति।

संशय–जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे, उसका यथावत् ज्ञान न होना।

प्रमाद–समाधि साधनों में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना।

आलस्य–शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना।

अविरति–विषय सेवा में तृष्णा का होना।

भ्रांतिदर्शन–उल्टे ज्ञान का होना, जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जडबुद्धि करना, ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वर-भाव करके पूजा करना।

अलब्धभूमिकत्व–समाधि की प्राप्ति न होना।

अनवस्थितत्व–समाधि की प्राप्ति होने पर भी उसमें चित्त स्थिर न होना।

ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं।"

महर्षि दयानंद ने प्रकृत सूत्र में वर्णित नौ प्रकार के अन्तरायों का क्रमशः संक्षिप्त उल्लेख किया है। इनमें व्याधि होने पर वात, पित्त और कफ आदि दोषों की विषमता योगमार्ग में बाधक है। स्त्यान अर्थात् सुख एवं आनन्द की इच्छा रहते हुए भी उनकी प्राप्ति के प्रति अकर्मण्यता की भावना की विद्यमानता और संशय अर्थात् योगानुष्ठान की फल-प्राप्ति के विषय में संदिग्धता तथा प्रमाद अर्थात् लापरवाहीवश जानते हुए भी योगसाधनों का अनुष्ठान न करना ये अन्तराय योग प्रवृत्ति में बाधक हैं। आलस्य अर्थात् देहादि की शिथिलतावश मनोयोगपूर्वक कर्त्तव्य में प्रवृत्त न होना। अविरति अर्थात् संसारिक विषयों में अनासक्ति का अभाव और भ्रान्तिदर्शन अर्थात् योग-विषयक यथार्थता के प्रति भ्रांति में रहना समाधि लाभ में बाधक है। अलब्धभूमिकत्व अर्थात् योगानुष्ठान करते हुए योग की किसी भूमि का प्राप्त न होना। मधुमती, मधुप्रतीका, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रांति ये चार योगभूमियां योग की अवस्था कही जाती हैं। क्रमपूर्वक होने वाले योग के ये स्तर हैं। योग की सफलता के इन में से किसी भी स्तर को प्राप्त न होने पर उपासक योगमार्ग से मुख मोड़ लेता है। यही अलब्धभूमिकत्व नामक अन्तराय है।

समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाने पर भी पूर्ण रूप से चित्त का अवस्थित न होना अनवस्थितत्व विघ्न कहलाता है।

ये नौ प्रकार के अन्तराय हैं जो उपासक को विचलित करते रहते हैं और चित्त को विक्षिप्त कर योग मार्ग से भ्रष्ट कर देते हैं। ये चित्त के विक्षेप, योग के मल, अन्तराय अथवा प्रतिपक्षी कहलाते हैं। अन्तरायों के फलों का निर्देश करता हुआ सूत्रकार लिखता है–

अन्तरायों का फल

दुःख दौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासविक्षेपसहभुवः यो. द. 1.1.31

इस सूत्र के भाष्य मे महर्षि दयानंद ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं–

"दुःखमाध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकम् च। येनाभिहत प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम् दौर्मनस्यम्--इच्छाभिघातचेतसः क्षोभः। यदंगान्येजयति कम्पयति तदगमेजयत्वम्। प्राण यद् बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं वायुं निस्सारयति स प्रश्वासः। विक्षेप सह भुवो विक्षिप्त चित्तस्यैते भवन्ति समाहित चित्तस्यैते न भवन्ति। "दु ख की प्राप्ति, मन का दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कंपन, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना, जोकि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। ये सब क्लेश अशांत चित्तवाले को प्राप्त होते हैं। शांत चित्त वाले को नहीं।" महर्षि दयानंद का यहां यह मन्तव्य है कि ये दुःख केवल विक्षिप्त चित्त वालों को ही प्राप्त होते हैं शांतचित्त अर्थात् समाहित चित्त वाले योगी को नहीं।

दुःख–महर्षि दयानंद त्रिविध दुःखों की विवेचना करते हुए लिखते हैं– "त्रिविधताप अर्थात् इस संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं। एक–"आध्यात्मिक" जो आत्मा शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वर पीड़ादि होने हैं। दूसरा– "आधिभौतिक", जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है। तीसरा--"आधिदैविक" जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अति उष्णता, मन और इन्द्रियों की अशांति से होता है। इन त्रिविध तापों से योगी को सुरक्षित रहना अनिवार्य है तभी वह योगमार्ग पर निर्बाध रूप से अग्रसर हो सकता है।

दौर्मनस्य–इच्छा की पूर्ति न होने पर उसमें आने वाली बाधा से मन में उत्पन्न हुआ क्षोभ। जिससे उपासक योगाभ्यास करने में अक्षम होता है।

अंगमेजयत्व–शरीर के अंगों में होने वाला कंपन जिससे एक आसन पर ध्यानावस्थित होने में बाधा उत्पन्न होती है।

श्वास--नासिकारन्ध्र द्वारा बाहर से वायु का भीतर प्रवेश होना 'श्वास' कहाता है। साधक की इच्छा के विपरीत श्वास के भीतर आ जाने से अभ्यास में बाधा उत्पन्न होती है। यह रेचक प्राणायाम का प्रतिबन्धी है। अतः धूल, धुंआ और दुर्गन्ध आदि बाह्य आघातों से बचने के लिए महर्षि दयानंद ने एकांत स्थान में उपासना का निर्देश किया है।

प्रश्वास–शरीर के भीतर से बाहर को निकलने वाली वायु "प्रश्वास" कहलाती है, इसका निकलना भी यदि साधक की इच्छा के प्रतिकूल हो तो यह बाधा है। प्रश्वास कुम्भक प्राणायाम का प्रतिबंधी है।

इस प्रकार दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास ये बाधाएं केवल विक्षिप्त चित्तवाले साधक को ही सताती हैं। चित्त की विक्षिप्त अवस्था में साधक व्याधि आदि विक्षेपों से भी अभिभूत रहता है। विक्षेपों के साथ ये उपद्रव भी साधक

के सन्मुख आ जाते है अत साधक को इन से बचना चाहिए

दुःख त्याग का उपाय

व्याधि आदि समस्त विक्षेप समाधि के विरोधी होते हैं जिन्हें पूर्वोक्त अभ्यास के द्वारा रोका जा सकता है। अतः महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इनके निरोध का उपाय बताते हुए निम्नलिखित सूत्र उद्धृत करते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः यो. द. 1.1.32

"उन दुःखों के छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है कि जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्व है उसी में बज्ररूप शस्त्र है, अन्य कोई नहीं। इसलिए सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिए कि जिससे वे सब विघ्न दूर हो जायें।" इस सूत्र के 'एकतत्व' पद का अर्थ महर्षि ने "ईश्वर" किया है। यहा अभ्यास का तात्पर्य ईश्वर की निरन्तर उपासना अथवा प्रणिधान है। एकतत्व की उपासना का अभ्यास नित्यप्रति किया जाना ही महर्षि दयानंद को अभिप्रेत है। जिससे इसका अभिप्राय है—प्रणवादि का जप करना तदनुसार अर्थ चिन्तन करना और समस्त क्रियाओं व उनके फलों को ईश्वरापर्ण करना, जिससे एकतत्व ब्रह्म की उपासना एव उसकी आज्ञा का पालन करने से व्याधि आदि विघ्नों और उनके साथ होने वाले दुःखादि उपविघ्नों की निवृत्ति हो जाती है। इस भांति एकतत्व की उपासना का अभ्यास करके व्याधियों का प्रतिषेध करना चाहिए। इनके प्रतिषेध के उपायों का विवेचन अग्रिम सूत्र एव उसकी व्याख्या में द्रष्टव्य है। जिस भावना से उपासना करने वाले को व्यवहार मे अपने चित्त को प्रसन्न करना होता है, सो (यो. द. 1.1.33) कहते हैं—

मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणांसुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना तश्चित्त प्रसादनम्

भा. "तत्र सर्वप्राणिषु सुख संभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत् दुःखितेषु करुणा पुण्यात्मकेषु मुदिताम् अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसादयत्ति प्रसन्नमेकाग्रं स्थिति पदं लभते।

"इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं उन सबों के साथ मित्रता करना। दुःखियों पर कृपा दृष्टि रखनी। पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता। पापियो के साथ उपेक्षा अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना। इस प्रकार के वार्तव से उपासक के आत्मा में सत्य-धर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है।" इस संसार में सज्जन-दुर्जन पापात्मा पुण्यात्मा सर्वविध मनुष्य हैं जिनसे व्यावहारिक जीवन में सुख-दुःख की अनुभूति होती है। परन्तु योगसाधक को तो केवल मात्र चित्त की प्रसन्नता ही अपेक्षित है। अतः उसे उपरोक्त प्रकार से ही सबके साथ व्यवहार में प्रवृत्त होना चाहिए क्योंकि ऐसा व्यवहार करने से ही चित्त की प्रसन्नता बनी रह सकती है। इस प्रकार के श्रेयस्कर व्यवहार से चित्त को निर्मल, स्वच्छ, प्रसन्न बनाकर साधक सम्प्रज्ञात योग की स्थिति प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

प्राणायाम

अन्तरायों से विक्षिप्त चित्त को ब्रह्म के अभ्यास से शांत करने का उपदेश देने के उपरांत सूत्रकार चित्त की एकाग्रता का उपाय बताते हुए कहता है—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य यो. द. 1.1.34

इस सूत्र के भाष्य में महर्षि दयानंद लिखते हैं—"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दें। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करें। इसी प्रकार बारम्बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा स्थिर हो जाता है। प्राण, मन और आत्मा इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारम्बार मग्न करना चाहिये।" (ऋ. भा. भू.)

प्रच्छर्दन और विधारण का वर्णन यहां महर्षि दयानन्द ने प्राण को बाहर से रोकने एव धीरे-धीरे भीतर लाने की विधि से किया है। प्राण का अर्थ—श्वास प्रश्वास जो नासिका छिद्रों द्वारा वायु का बाहर फेंका जाना "प्रच्छर्दन" और भीतर ग्रहण करके रोकना या बाहर फेंककर रोकना "विधारण" कहलाता है। प्राण को भीतर से बाहर फेकना "रेचक" और बाहर से भीतर को फेंकना "पूरक" कहलाता है। इन दोनो क्रियाओं के अनन्तर प्राण को वहीं रोक देना "कुम्भक" कहलाता है। यह बाहर रोकने से "बाह्यकुम्भक" और भीतर रोकने से "आन्तरकुम्भक" के नाम से अभिहित है। इस प्रकार रेचक, पूरक और कुम्भक इन तीन अंशों में प्राणायाम पूर्ण होता है। इनमें रेचक, और पूरक "प्रच्छर्दन" के और कुम्भक "विधारण" प्राणायाम के अन्तर्गत हैं। इस विधि से नित्य प्रति प्राणायाम करने से प्राण वश में हो जाता है प्राण के स्थिर में हो जाने से मन और मन के स्थिर हो जाने से आत्मा भी स्थिर हो जाती है। इन तीनों के स्थिर हो जाने पर आत्मा अपने में व्यापक अन्तर्यामी परमेश्वर में मग्न होकर बार-बार आनद को प्राप्त करता है।

प्राणायाम चित्त की एकाग्रता और आनन्दमग्न होने का उपायभूत प्रमुख साधन और है। चित्तवृत्ति निरोध का प्रधान उपाय है। चित्त की स्थिरता के लिए प्राणायाम का उपपादन कर प्रोत्साहन प्रवृत्तिरूप में सूत्रकार एक अन्य उपाय बताता है—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी विषयवती नासिकाग्र आदि स्थानों पर चित्त को स्थिर करने से उत्पन्न दिव्यगन्धादि विषयों वाली प्रवृत्ति मन की स्थिरता का कारण होती है।"

चित्त की स्थिरता कैसे और कहा करनी चाहिये? ईश्वर को साकार को मनाने

वाले समस्त उपासक यत्र तक दिया करते हैं कि मूर्ति आदि के दर्शन से चित्त स्थिर हो जाता है किन्तु यह धारणा सर्वथा मिथ्या एवं योगदर्शन के विरुद्ध है इस सूत्र के भाष्य में महर्षि व्यास ने इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि

"प्रथम स्तर पर भी चित्त की स्थिरता बाह्य पदार्थों में नहीं अपितु शरीर के अंदर ही करनी चाहिए।"

इस विषय में महर्षि दयानंद ने कहा है—"इससे प्रतिमा पूजन कभी नहीं आ सकता। क्योंकि इन्होने देवबुद्धि करना नहीं लिखा। किन्तु जैसे जड़ हैं, वैसे ही योगी लोग उनको जानते हैं और बाह्यमुख जो कथित, उसको भीतर मुख करने के वास्ते योगशास्त्र की प्रवृत्ति है। बाहर के पदार्थ का ध्यान करना योगी लोगों को नहीं लिखा। क्योंकि जो सावयव पदार्थ हैं उनमें कभी चित्त की स्थिरता नहीं होती और जो होवे तो मूर्तिमान धन, पुत्र, दारादिक के ध्यान में सब संसार लगा ही है। परन्तु चित्त की स्थिरता किसी की भी नहीं होती।" (हुगली शस्त्रार्थ)

वस्तुतः योगदर्शन में चित्त को एकाग्र करने एवं प्रणव जप व ध्यान करने के लिए कई अंगों व स्थानों का उल्लेख है जिसका साधक निज अभिरुचि के अनुसार योगाभ्यास के लिए चयन करता है। उनमें से ही कुछेक का निदर्शन एक सूत्र में किया गया है कि जब योगी नासिका के अग्रभाग, जिह्वा के अग्रभाग तथा जिह्वा मूल आदि स्थानो मे चित्त का संयम करता है तब उसके चित्त की गंध, रूप आदि को विषय करती हुई साक्षात्कार रूप वृत्ति उत्पन्न होती है जिससे योगी का चित्त स्थिर हो जाता है। यही प्राकृत सूत्र से महर्षि दयानंद का अभिमत है। पूर्वोक्त विषयवती प्रवृत्ति चित्त की स्थिरता का प्रयोजक है, वैसे ही ज्योतिष्मती भी। अतः उसका कथन किया जाता है—

विशोका वा ज्योतिष्मती (यो. द. 1.1.36.)

"इसमें यह देखना चाहिए कि हृदय में धारणा चित्त की लिखी है। इससे निर्मल प्रकाशस्वरूप चित्त होता है। जैसा सूक्ष्म विभु प्रकाश है वैसी ही योगी की बुद्धि होती है अपने हृदय में विशाल स्थिति के होने से बुद्धि जो शुद्ध प्रवृत्ति, सोई बुद्धि सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि, इन्हीं की जैसी प्रभा, वैसे ही योगी की बुद्धि समाधि में होती है। तथा अस्मिता मात्रा अर्थात् यह मेरा स्वरूप है, ऐसा साक्षात्कार स्वरूप का ज्ञान बुद्धि को जब होता है तब चित्त निस्तरंग अर्थात् निष्कम्प समुद्र की नांई एकरस व्यापक होता है। तथा शांत, निरूपद्रव, अनन्त अर्थात् जिसकी सीमा न होवे, यही मेरा स्वरूप है अर्थात् मेरी आत्मा है, जो विगत अर्थात् शोकरहित जो प्रवृत्ति वही विषयवती प्रवृत्ति कहाती है। उसको अस्मितामात्र प्रवृत्ति कहते हैं। तथा ज्योतिष्मती भी उसी को कहते है। योगी का जो चित्त है, सोई चन्द्रादित्य आदिक स्वरूप हो जाता है।" (हुगली शास्त्रार्थ) यहां उपरोक्त सन्दर्भ में हृदय पुण्डरीक में मन को स्थिर करने का वर्णन व्यासभाष्य में किया गया है। हृदय पुण्डरीक की व्याख्या महर्षि दयानंद ने "अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म (छान्दो.) प्रमाण की व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के

मुक्तिविषय में इस प्रकार की है–

"कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमे कमल का आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में खोज करने से परमात्मा मिल जाता है।"

इस प्रकार हृदय मे चित्त की धारणा करने से चित्त निर्मल व प्रकाशस्वरूप हो जाता है और उस दिव्य आलोक के दर्शन में साधन इतना प्रफुल्लित हो जाता है उसे शोकादि का लेशमात्र भी अनुभव नहीं होता। यह अवस्था उस समय उत्पन्न होती है जब चित्त अर्थात् बुद्धितत्व नितान्त सात्विक होता है, आत्मा के निवास स्थान हृदय मे सात्विक बुद्धि के सहयोग से आत्मसाक्षात्कार की यह अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि का अतिम स्तर समझना चाहिए जो कि वृत्यात्मक होने से तात्कालिक होता है परन्तु उसका सुखानुभव उसे पुनः पुनः इस दशा को स्थायित्व प्रदान करने हेतु प्रेरित करता है। जिससे साधक योगी का चित्त उत्साह प्रयत्न करते रहने से पूर्व स्थिरता को प्राप्त कर लेता है। चित्तनिरोध के उपाय बताते हुए सूत्रकार लिखता है–

स्वप्ननिद्रा ज्ञानालम्बनं वा यो. द. 1.1.38

"जैसे स्वप्नावस्था में चित्त ज्ञानस्वरूप होके पूर्वानुभूत संस्कारों को यथावत् देखता है तथा निद्रा अर्थात् सुषुप्ति में आनन्दस्वरूप ज्ञानवान चित्त होता है, ऐसा ही जागृतावस्था में जब योगी ध्यान करता है। इस प्रकार आलम्बन से तब योगी का चित्त स्थिर हो जाता है।" (हुगली शास्त्रार्थ)

इसका भाव यह है कि योगी चित्त की स्थिति के लिए स्वप्नावस्था व निद्रा मे ऐसे दृश्यों को देखना जैसे दृश्य व सुख की चाहना से जागृतावस्था में देखना चाहता है इससे भी चित्त की वृत्तियों को रोकने में सहायता मिलती है। अंत में सूत्रकार चित्त वृत्ति-निरोध का एक अन्य उपाय हुगली शास्त्रार्थ, प्रतिमा पूजन विचार में बताता है–

यथाभिमतध्यानाद्वा यो. द. 1.1.39

"उपर्युक्त उपायों में से किसी भी उपाय का आलम्बन करके चित्त को धारण करे। उस अभीष्ट विषय में स्थिर हुआ चित्त अन्य विषयों में स्थिरता को प्राप्त करता है। अथवा "इससे लेके स्वप्न "निद्राज्ञानालम्बनं वा" यहां तक शरीर में जितने चित्त के स्थिर करने के वास्ते स्थान लिखे हैं, इन्हीं में से किसी एक स्थान में योगी चित्त को धारण करे। जिस स्थान में अपनी अभिमति, उसमें चित्त को ठहराये।"

❑

पचम अध्याय

अष्टाग योग

बाह्य सीमित पदार्थों में मन को स्थिर करने के लिए योग के आठ अंगों का विशेष महत्व है। अतः योगदर्शनाभिमत स्थानों में ध्यानावस्थित होने पर ही चित्त की स्थिरता प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं।

योग के आठ अंग

योगदर्शन के प्रथम अध्याय में शास्त्र के चतुर्व्यूह हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय का निरूपण करके विवेकख्याति का वर्णन करने के उद्देश्य से सूत्रकार विवेकख्याति को प्राप्त करने के साधनों का निर्देश करता है—

योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरविवेकख्यातेः यो. द. 2.1.28

भाष्यम्—एपामुपासनायोगांनामनुष्ठानाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति, ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति।

"उपासना के आठ अंग हैं, जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

महर्षि दयानन्द ने योग के अंगों के अनुष्ठान करने से मोक्ष की प्राप्ति बतलाई है। यहां उन्होंने विवेकख्याति पद का ही अर्थ मोक्षप्राप्ति लिखा है। योग के अंगों के अनुष्ठान से अविद्या आदि दोप क्षीण हो जाते हैं और प्रतिदिन ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जाती है। इस प्रसंग में वे सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखते ह--

"जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है। और अंत में ज्ञान के प्रकाश की यह वृद्धि अपने सर्वोच्च प्रकर्ष विवेकख्याति को प्राप्त कर लेती है। जिसमें आत्मा को प्रकृति पुरुष के भेद का साक्षात्कार और प्रकृति क जडतत्व का ज्ञान तथा आत्म तत्व के चेतनत्व एवं अपरिणामित्व का बोध भी हा जाता है। इस प्रकार योग के अंगों के अनुष्ठानों से विवेकख्याति की प्राप्ति और चित्त से दोषों का वियोग हो जाता है। योग के जिन अंगों के अनुष्ठान से चित्त के दोषों का निवारण और वियेकख्याति की प्राप्ति होती है वे अंग कौन-कौन से है। उन अंगों का प्रतिपादन करते हुए महर्षि दयानंद योगदर्शन का निम्नलिखित सूत्र उद्धृत करते हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा ध्या न समाधयोऽष्टांगानि यो.द. 1.2.29

"एक यम दूसरा नयम तीसरा आसन चौथा प्राणायाम पांचवां समाधि ये सब उपासना योग के अंग कहाते हैं और आठ अगों का सिद्धान्तरूप फल संयम है।"

यम से लेकर समाधि तक ये आठ अंग योग के माने जाते हैं। इन्हीं आठ अगो मे योग के सब भाव व साधन समाहित हैं। इन आठ अंगों के अनुष्ठान का महर्षि दयानद ने फल "संयम" माना है। उनका यहां यह अभिप्राय विदित होता है कि इन आठ अगो मे प्रथम पांच बहिरंग साधन हैं और तीन अंतरंग साधन हैं। बहिरंग साधनों की सिद्धि के बिना उपासक अंतरंग साधनों को सिद्ध नहीं कर सकता। इनको विधिवत् सिद्ध करने से आसनसिद्धि और आसनसिद्धि से प्राणायामसिद्धि और प्राणायाम की सिद्धि से मन की वृत्तियों का संयम होता है। तत्पश्चात् योगी प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को प्राप्त करने का अधिकारी बन पाता है। अतः मन का संयम परमावश्यक है। इसीलिए महर्षि दयानंद ने योगांगों के अनुष्ठान का फल संयम कहा है।

यम

अष्टांग योग का विवेचन करते हुए महर्षि दयानंद ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में योग दर्शन का निम्नांकित सूत्र उद्धृत करते हैं–

तत्राहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः यो. द. 1.2.30

उपासना योग के उन आठों में से पहला यम है। सो पांच प्रकार का है–

अहिंसा–सब प्रकार से, सब काल में सब प्राणियों के साथ बैर छोड़ के प्रेम प्रीति से वर्तना।

सत्य–जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने।

अस्तेय–पदार्थवाले की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरी त्याग कहते हैं।

ब्रह्मचर्य–विद्या पढ़ने के लिए बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह का करना, परस्त्री, वेश्या आदि का त्यागना, सद् ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक-ठीक पढ़के सदा पढ़ाते रहना, और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना।

ब्रह्मचर्य–महर्षि दयानंद ने ब्रह्मचर्य का पर्याप्त महत्व कहा है उन्होंने स्वय आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया। उनके जीवन में कई घटनाएं ऐसी घटित हुई है जिससे उनके ब्रह्मचर्य बल का ज्ञान होता है। कीचड़ में धंसी बैलगाड़ी को धकेल कर बाहर निकालना, राजा कर्णराव द्वारा तलवार से जानलेवा प्रहार करने पर हाथ से तलवार के दो टुकड़े कर देना आदि उनके अप्रतिम ब्रह्मचर्य बल के प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस प्रकरण में उन्होंने स्त्री पुरुष सभी के लिए अनिवार्यरूपेण ब्रह्मचर्य के पालन हेतु उपरोक्त अष्टविध मैथुनों से बचने के लिए लिखा है। वे ब्रह्मचर्य का सभेद वर्णन

करते हुए लिखते हैं—"ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है—

कनिष्ठ—जो पुरुष अन्नरसमय देह और पुरि अर्थात् देह में शयन करने वाला, जीवात्मा, यज्ञ अर्थात् अतीव शुभ गुणों से संगत और सत्कर्त्तव्य है इसको अवश्य हे कि 24 वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे और विवाह करके भी लम्पटता न करे तो उसके शरीर में प्राण बलवान होकर सब शुभ गुणों के वास कराने वाले होते हैं।

मध्यम—ब्रह्मचर्य यह है जो मनुष्य 44 वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है उसके प्राण, इन्द्रियां, अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त होके सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करने हारे होते हैं।

उत्तम—ब्रह्मचर्य 48 वर्ष पर्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है जैसे 48 अक्षर की जगती वैसे जो 48 वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं।"

ब्रह्मचर्य का फल—"जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य का लोप नहीं करते वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष को प्राप्त होते हैं।"(सत्यार्थ प्रकाश समु. 3) उपरोक्त प्रकरण में महर्षि दयानंद ने ब्रह्मचर्य की जो विवेचना की है उससे स्पष्ट होता है कि इसके साथ अनवरत स्वाध्याय, प्राणायाम, संयम आदि यम नियमों की पालना भी परमावश्यक है। तभी वह योगाभ्यास एवं उपासना योग में सफल हो सकता है।

उपरोक्त सूत्र की व्याख्या महर्षि दयानंद सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार करते है—

अहिंसा वैरत्याग **सत्य** सत्य मानना, सत्य बोलना, और सत्य करना **अस्तेय** मन, वचन, कर्म से चोरी त्याग **ब्रह्मचर्य** उपस्थेन्द्रिय का संयम **अपरिग्रह** अत्यन्त लोलुपता, स्वत्वाभिमानरहित होना, इन पांच यमों का सेवन सदा करें।

अपरिग्रह—विषय और अभिमानादि दोनों से रहित होना। इन पांचों का ठीक-ठीक अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है। पांच यमों का विवेचन स्वामी दयानंद ने निम्नलिखित प्रकार से किया है—

सर्वदा (अहिंसा) निर्वैरता (सत्यम्) सत्य बोलना सत्य करना, (अस्तेय) मन, कर्म, वचन से अन्याय करके परपदार्थ का ग्रहण न करना चाहिए, न किसी को करने का उपदेश करे (ब्रह्मचर्यम्) सदा जितेन्द्रिय—अष्टविध मैथुन का त्याग करके वीर्य की रक्षा और उन्नति करके चिरंजीवी होकर सदा सबका उपकार करता रहे, (अपरिग्रह) अभिमान आदि दोषरहित किसी संसार के धनादि पदार्थ मे मोहित होकर कभी न फसे। इन पांच यमों का सेवन सदा किया करें।"

उपरोक्त अष्टविध मैथुन का वे सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में इस प्रकार उल्लेख करते हैं—1. दर्शन, 2. स्पर्शन 3. एकान्तसेवन, 4. भाषण, 5. विषयकथा, 6. परस्परक्रीड़ा, 7. विषय का ध्यान और 8. संग। इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग

रहे। अब क्रमशः पांच यमों के फलों का वर्णन करने हेतु महर्षि दयानंद योगदर्शन के सूत्रों को उद्धृत करते हुए उनका व्याख्यान निम्नलिखित प्रकार से करते हैं–

अहिंसा–यम का दूसरा भेद है–अहिंसा का आचरण करने पर क्या फल प्राप्त होता है उसका कथन करते हैं–

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः यो. द. 10.2.35

"जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है, तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है किन्तु उसके सामने वा उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है।"

जब योगी अहिंसाव्रत मे प्रतिष्ठित हो जाता है तब उसके चित्त में मन, वचन व कम के द्वारा हिंसा की भावना कदापि नहीं उभरती, तब उस को ऐसी सिद्धि प्राप्त हो जाती है कि उसके समीप रहने वाले प्राणी की हिंसा वृत्ति भी समाप्त हो जाती है। उस सिद्ध योगी के सान्निध्य से न केवल मनुष्य अपितु सिंहादि हिंसक प्राणियों की भी हिंसा वृत्ति समाप्त हो जाती है।"

सत्य–सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् यो. द. 1.2.36

"सत्याचरण का ठीक-ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है, तब वह जो-जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे-वे सब सफल हो जाते हैं।" (ऋ. भा. भू.)

"जब योगी के मन में असत्य की भावना पूर्णतया समाप्त हो जाती है और वह सत्यनिष्ठ बन जाता है, तब सत्य का ही उच्चारण करने वाले योगी की वाणी अमोघ हो जाती है और उसका कहा कभी भी निष्फल नहीं होता। यदि इस प्रकार का सत्य निष्ठ योगी किसी अधार्मिक को कह दे कि तू धार्मिक हो जा, तो वह धार्मिक हो जाता है।"

सत्य की साधना करने के महत्व का प्रतिपादन करते हुए महर्षि दयानंद लिखते हैं–"जिस पुरुष ने जिसके सामने एक वार चोरी जारी मिथ्याभाषणादि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्यु पर्यन्त नहीं होती। जैसी हानि प्रतिज्ञा मिथ्या करने वाले की होती है, वैसी अन्य किसी को नहीं।''इसलिए सदा सत्यभाषण और सत्य प्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिए।" (सत्यार्थ प्रकाश समु. 2)

अतः सत्य का आचरण, सत्य का भाषण, योगी के लिए अनिवार्य है क्योंकि सत्य की प्रतिष्ठा होने पर क्रिया में फल का आश्रय रूप सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

अस्तेय–अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् यो. द. 1.2.37

"जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है तब उसको सब उत्तम-उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं और चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के बिना अधर्म से उसकी चीज़ को कपट से वा छिपाकर ले लेना।" (ऋ. भा. भू.)

सत्यार्थप्रकाश में भी महर्षि दयानंद अस्तेय का लक्षण बताते हुए लिखते हैं– अस्तेय–अर्थात् मन, वचन, कर्म से चोरी त्याग। (स. प्र. समु. 3) योगी जब मन, वचन और कर्म से चोरी करना त्याग देता है तब अस्तेय में सुदृढ़ स्थिति हो जाने से उसे समस्त रत्नों की प्राप्ति होने लगती है। अर्थात् भौतिक पदार्थों के प्रति उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है और आध्यात्मिक रत्न उसे प्राप्त होने लगते हैं। इस प्रकार अहिंसा, सत्य और अस्तेय में प्रतिष्ठित योगी उपासना योग में उन्नतावस्था को प्राप्त करने लगता है।

ब्रह्मचर्य–ब्रह्मचर्य के पालन के फल का वर्णन करते हुए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मे वे लिखते हैं–अथ ब्रह्मचर्याश्रमानुष्ठानेन यल्लभ्यते, तदुच्यते–ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान से क्या प्राप्त होता है उसका कथन करते हैं–

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः यो. द. 1.2.38

"ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रखे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता-पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन, कर्म, वचन से त्याग देवे, तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है–एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढने से मनुष्य अत्यन्त आनंद में रहता है।"

उपरोक्त सूत्रानुसार ब्रह्मचर्य के लाभ का उल्लेख करते हुए वे सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में लिखते हैं–"वीर्य की रक्षा में आनंद और नाश करने में दुःख की प्राप्ति । जैसे–देखो जिसके शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है, तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, सम्भाषण और स्पर्शादि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें, जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है, वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है।"

अतः योगाभ्यास में सफलता अर्जित करने एवं धर्म अर्थ काम और मोक्ष को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है।

अपरिग्रह– अपरिग्रहस्थैर्ये जन्म कथंता संबोधः (यो. द. 1.2.39)

"अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हू, कहां से आया हूं और मुझको क्या करना चाहिए, अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा, इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन मे स्थिर होता है। अर्थात् अपरिग्रह नामक यम में स्थिरता होने पर योगी को जन्मकथंता संबोध=जन्मों और जन्म के कारणों का बोध हो जाता है। और जब वह सुखदःखादि के कारणों को जान लेता है तब दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति

हेतु प्रयत्न किया जाना भी स्वाभाविक है जिससे शुभ गुणों का विचार एवं मोक्ष प्राप्ति की कामना उसके मन में स्थिर हो जाती है।"

वस्तुतः मैं कौन हूं? पूर्व जन्मों में क्या था? किन कारणों से था? वर्तमान जन्म कैसे है? भविष्य क्या होगा? इत्यादि चिंतन की भावना से परिग्रह की भावना शिथिल हो जाती है और योगी अपरिग्रह की ओर प्रवृत्त हो जाता है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय और सत्यार्थ-प्रकाश के कतिपय प्रकरणों में महर्षि दयानंद ने यमों का विवेचनपूर्वक उल्लेख किया है। जिससे स्पष्ट होता है कि वे स्वयं यमों के पालन को विवेकख्याति की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन मानते हैं। यमों का मन वचन और कर्म से परिपालन करने के साथ-साथ नियमों की पालना की महती आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुये महर्षि दयानंद सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखते हैं–

"यमों के बिना केवल इन नियमों का सेवन न करे। किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों का सेवन छोड़ के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है।"

नियम

यमों का "नियम" सहकारी कारण है, जो कि उपासना का दूसरा अंग कहाता है, और जिसका साधन करने से उपासक लोगों को अत्यन्त सहाय होता है।

दूसरा अंग उपासना का नियम है जो कि पांच प्रकार का है–

शौचसन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः (यो. द. 1.2.32.)

शौच–"पवित्रता करनी सो भी दो प्रकार की है–एक भीतर की और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याभ्यास, सत्संग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से शरीर स्थान वस्त्र खाना, पीना आदि शुद्ध करने से होती है।"

संतोष–"जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख मे शोकातुर न होना किन्तु आलस्य का नाम संतोष नहीं है।"

तप–जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभ गुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना।

स्वाध्याय–मोक्षविद्याविधायक वेद शास्त्र का पढ़ना-पढ़ाना और ओंकार के विचार से निश्चय करना कराना।

ईश्वर प्रणिधान–सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिए समर्पण करना।

ये पांच नियम भी उपासना का दूसरा अंग हैं। उपर्युक्त सूत्र का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास में लिखते हैं–

शौच अर्थात् स्नानादि से पवित्रता **सन्तोष** सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना

सतोष नहीं, किन्तु पुरुषार्थ जितना हो सके उतना करना, हानि-लाभ में हर्ष वा शोक न करना तप अर्थात् कष्ट सेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान स्वाध्याय पढना-पढ़ाना **ईश्वर-प्रणिधान** ईश्वर की भक्ति विशेष में आत्मा को अर्पित रखना, ये पांच नियम कहाते हैं। यमों के विना केवल इन नियमों का सेवन न करे किन्तु इन दोनों का सेवन किया करें। जो यमों का सेवन छोड़ के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को प्राप्त नहीं होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार मे गिरा रहता है।" शौच सन्तोषादि नियम के व्याख्यान में महर्षि दयानन्द सस्कारविधि में लिखते हैं--

पांच नियम अर्थात् (शौच) बाहर भीतर से पवित्र रहना (सन्तोष) पुरुषार्थ करते जाना और लाभ-हानि में प्रसन्न और अप्रसन्न न होना (तपः) सदा पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म का सेवन, प्राणायामादि योगाभ्यास करना (स्वाध्याय) सदा प्रणव का जप अर्थात् मन में चिंतन और उसके अर्थ ईश्वर का विचार करते रहना (ईश्वर-प्रणिधान) अर्थात् अपने आत्मा को वेदोक्त परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित करके परमानन्द परमेश्वर के सुख को जीते हुए भोगकर, शरीर छोड़ के सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना सन्यासियों के मुख्य कर्म हैं।

महर्षि दयानन्द ने नियमों की पालना की अनिवार्यता न केवल सन्यासियो के लिए लिखी है अपितु प्रत्येक उपासक योगी मनुष्य के लिए उपरोक्त नियमों का पालन किया जाना आवश्यक है। इनका पालन करने से योगी स्वस्थ रहता है। हिंसादि दोषो से बचा रहता है और जन्म-मरण के बीज अर्थात् कारण कर्माशय को दग्धबीज की भांति फलोन्मुख करने में असमर्थ करता हुआ मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

शौच--शौचात्स्वांग जुगुप्सा परैरसंसर्गः (यो. द. 1.2.40:)

पूर्वोक्त दो प्रकार के (बाह्य और भीतरी) शौच से भी जब अपना शरीर और उसके सब अवयव बाहर भीतर से मलिन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सब के शरीर मल आदि से भरे हुये हैं, इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है।"

योगी जब शौच में स्थिरता प्राप्त कर लेता है तब उसे अपने शरीर के अगो से भी घृणा होने लगती है। क्योंकि इस शरीर को स्नानादि तथा यौगिक क्रियाओ से जितना भी शुद्ध क्यों न रखा जाय वह सर्वथा शुद्ध नहीं हो सकता। अपने शरीर को अशुद्ध जानकर योगी के मन में उसके प्रति अनासक्ति व उपेक्षा की भावना जागृत हो जाती है। पुनः अपने देह से लगाव न रहने पर उसमें अन्य व्यक्तियों के प्रति भी दैहिक लगाव नहीं रहता जिससे कि वह अन्य व्यक्तियो से ससर्ग नहीं रखता। अन्यो के संसर्ग में न रहने से वह योगी अनेक प्रकार के दोष उपद्रव व बाधाओं से दूर रहता हुआ निरन्तर योगाभ्यास में संलग्न रहने की सुविधा प्राप्त कर लेता है।

शौच का फल–शौच के अनुष्ठान से आन्तर शुद्धि का वर्णन करता हुआ सूत्रकार कहता है–

सत्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मक दर्शन योग्यत्वानि च यो. द. 1.2.41

शौच से अन्तःकरण की शुद्धि मन की प्रसन्नता और एकाग्रता इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है। (ऋ. भा. भू.)। अतः शौच के अनुष्ठान के महत्त्व का निदर्शन करते हुए स्वामी दयानंद लिखते हैं–"प्रथम बाह्य जलादि से शरीर की शुद्धि और राग द्वेष आदि के त्याग से भीतर की शुद्धि करनी चाहिये। (पंच महायज्ञ विधि)। शौचानुष्ठान का फल यह है कि प्रथम सत्वगुण प्रधान चित्त की शुद्धि व निर्मलता होती है तत्पश्चात् चित्त की एकाग्रता और एकाग्रता से चक्षु आदि इन्द्रियों की विषयों से निवृत्ति और इन्द्रियजय होने के उपरांत जीवात्मा की स्वरूप स्थिति हो जाती है। इस प्रकार शौच का अनुष्ठान करने और इन्द्रिय जय होने पर अन्तर्मुखी वृत्ति होने से सूक्ष्म-आत्म-तत्व को जानने में अत्यन्त सुविधा होती है। अतः शौचानुष्ठान आवश्यक है।

संतोष–संतोषादनुत्तमसुखलाभः (यो. द. 1.2.42)

तदनन्तर अर्थात् पूर्वोक्त सन्तोष से जो सुख मिलता है, वह सबसे उत्तम है और उसी को मोक्ष सुख कहते हैं। इसका अभिप्राय है कि समस्त दुःख और विविध प्रकार के क्लेश तृष्णा मूलक होते हैं। स्वापेक्षित एवं मर्यादित उपलब्धि में पूर्णरूप से सन्तुष्ट उपासक की चित्तभूमि में तृष्णा का बीज अंकुरित नहीं हो पाता। जिससे वह उपासक अनुपम एवं सर्वोत्कृष्ट सुख को प्राप्त कर लेता है। इसी सुख को स्वामी दयानंद ने मोक्ष के सुख के नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः सांसारिक सुख की अपेक्षा योगाभ्यास एवं उपासना के द्वारा संतोष का अनुष्ठान करने पर जो सर्वोत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है वह सर्वथा अलौकिक है अतः उसे मोक्ष सुख कहा है।

तप–क्रम प्राप्त तप नियम की स्थिरता से प्राप्त होने वाले फल के कथन मे स्वामीजी योगदर्शन का अग्रिम सूत्र–ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उल्लेख करते हैं–

कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः (यो. द. 1.2.43)

"पूर्वोक्त तप से उनके शरीर और इन्द्रिय अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहते हैं। इसका आशय है कि तप के अनुष्ठान करने से शरीर और इन्द्रियो की शुद्धि हो जाती है। योगी तप में सुदृढ़ होकर रोग-रहित रहते हैं। जिससे योगाभ्यास मे किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती। इसी सूत्र के अर्थ का उल्लेख करते हुए महर्षि सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में लिखते हैं–

"यथार्थ शुद्धभाव, सत्यमानना, सत्य बोलना, सत्य करना, मन को अधर्म में न जाने देना, बाह्य इन्द्रियों को अन्यायाचरणों में जाने से रोकना अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन से शुभकर्मों का आचरण करना, वेदादिं सत्य विद्याओं का पढना-पढाना, वेदानुसार आचरण करना आदि उत्तम धर्मयुक्त कर्मों का नाम तप है। धातु को तपा

के चमड़ी को जलाना "तप" नहीं कहाता।"

यहां स्वामी दयानंद ने कतिपय तथाकथित तपस्वियों द्वारा गर्म चिमटे से शरीर की चमडी को जलाना, एक टांग पर खड़े रहना आदि शारीरिक अंगों को कष्ट देने के तप का खण्डन किया है। क्योंकि इससे वह अंग विकृत होकर कई प्रकार की व्याधिया का कारण बनता है। उससे किसी भी प्रकार कायिक, वाचिक व मानसिक तप नही होता। इस प्रकार तप से चित्त की अशुद्धि का नाश होने से कार्यसिद्धि और इन्द्रियसिद्धि हो जाती है। तप से कार्यसिद्धि का क्या अभिप्राय है? इसका उत्तर व्यासभाष्य में लघिमा, गरिमादि सिद्धि कहकर दिया है और ये सिद्धियां शारीरिक कदापि नहीं है। इस विषय में स्वामी दयानंद उपदेश मंजरी कहते हैं--

"अणिमा आदि विभूतियां हैं ये योगी के चित्त में पैदा होती हैं। सांसारिक लोग जो यह मानते हैं कि ये योगी के शरीर में पैदा होती हैं, यह ठीक नहीं है। 'अणिमा' का अर्थ है कि योगी का चित्त छोटी से छोटी वस्तु का विशेष सूक्ष्म होकर नापने वाला होता है। इस प्रकार बड़े से बड़े पदार्थ को विशेषकर बड़ा होकर योगी का मन घर लेता है, उसे 'गरिमा' कहते हैं ये मन के धर्म हैं, शरीर में इनकी शक्ति नहीं है।'

अतः यहां इन्द्रिय-सिद्धि से अभिप्राय इन्द्रिय शक्ति के समृद्ध होने से दूर-दशन, दूर-श्रवण आदि सिद्धियों को प्राप्त करने से है। ये सिद्धियां स्वसामर्थ्यानुसार उपासना-योगी को प्राप्त होती हैं। योग दर्शन 3.41 के अनुसार श्रवणेन्द्रिय तथा आकाश के विशेष सम्बन्ध तथा संयम के कारण योगी को दिव्य श्रवण शक्ति प्राप्त हो जाती ह जिससे योगी आकाशस्थ दूरस्थ ध्वनियों को सुनने में समर्थ हो जाता है। इसी प्रकार इन्द्रिय सिद्धि को भी कायसिद्धि की भांति समझना चाहिए। क्योंकि यथार्थ में इन्द्रिया भी मन की भांति सूक्ष्म शरीर के घटक ही हैं। जैसे महर्षि दयानंद लिखते हैं--

"पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि, इन सत्रह तत्वो का समुदाय सूक्ष्म शरीर कहाता है। यह सूक्ष्मशरीर जन्म मरणादि में भी जीव के साथ रहता है।"

इस तरह कायसिद्धि और इन्द्रियसिद्धि की प्राप्ति योगी को अशुद्धि का क्षय होने के उपरान्त तप के अनुष्ठान से प्राप्त हो जाती है। जैसे कि त्वक् का वायु से, चक्षु का तेज से, रसना का जल से, घ्राणेन्द्रिय का पृथ्वी से विशेष सम्बन्ध एवं संयम होने से दिव्य रूप, दिव्यरसन, तथा दिव्यघ्राण की शक्ति प्राप्त हो जाती है। सूत्रकार ने उपरोक्त प्रकार से इन्द्रिय सिद्धि का योग दर्शन 3.36 में भी वर्णन किया है। अत तप का अनुष्ठान करना आवश्यक है क्योंकि इससे योगी को अशुद्धिक्षय होने से तप के अनुष्ठान द्वारा शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है।

स्वाध्याय का फल--"स्वाध्याय" के अन्तर्गत परिगणित "स्वाध्याय" का विवेचन करते हुए महर्षि दयानंद योगदर्शन का निम्नांकित सूत्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उद्धृत करते हैं--

स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः यो. द. 1.2.44

"स्वाध्याय से इष्ट देवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् सांझा होता है फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि सत्याचरण पुरुषार्थ ओर प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र मुक्ति को प्राप्त होता है।"

योग का लक्ष्य है—परमात्मा की प्राप्ति और स्वाध्याय का भी लक्ष्य मोक्ष ही है। अत योग के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय भी अत्यन्तावश्यक है जैसा कि योगदर्शन 1.28 के भाष्य में भी कहा गया है—स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।" अर्थात् स्वाध्याय और योग की समृद्धि से परमात्मा का प्रकाश होता है। महर्षि दयानंद ने इस सूत्र में इष्टदेवता पद का अर्थ परमात्मा ही किया है। अतः इस सूत्र का दयानन्दाभिमत यह अर्थ है कि "स्वाध्याय से परमात्मा का सम्प्रयोग अर्थात् साक्षात्कार होता है और फिर परमात्मा के अनुग्रह एवं सहाय से आत्मा की स्वशुद्धि सत्याचरण से सम्बन्ध होने पर मुक्ति हो जाती है।"

ईश्वरप्रणिधान का फल अष्टांगयोग के द्वितीय अंग नियम के अंतिम भेद ईश्वरप्रणिधान के फल का वर्णन करते हुए सूत्र उद्धृत करते हैं—

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् यो. द. 1.2.45

पूर्वोक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है। यहा "ईश्वर प्रणिधान" का फल समाधिसिद्ध कहा गया है। ईश्वर प्रणिधान की विवेचना मे स्वामी दयानद लिखते है—"सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेम-भाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिए समर्पण करना। उपर्युक्त प्रकार से जब उपासक ईश्वर के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित हो जाता है तब उसके फलस्वरूप उसे समाधि की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् जब उपासक परमात्मा में अन्तनिर्हित होकर संतोष को और अर्पण की भावना के प्रति परिनिष्ठित होकर समस्त बाधाओं से आत्म सुरक्षा को तथा चित्त की आनंदमय स्थिति को प्राप्त कर लेता है यह स्थिति परमलक्ष्य आत्म साक्षात्काररूप समाधि को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त अनुकूल रहती है। पुनः वह निज अभिलषित सत्य को चाहे वह भूतकालिक, वर्तमानकालिक अथा भविष्य में घटित होने वाला हो, को जान लेता है। यही ईश्वर प्रणिधान में परिनिष्ठा का फल है। इस प्रकार योगी यम-नियमों का विधिवत् सेवन करके अंत में समाधि को प्राप्त हो जाता है।

आसन

उपासना योग के प्रथम दो पड़ाव, यम और नियमों में प्रतिष्ठित हो जाने के उपरांत आसन का निम्नलिखित प्रकार से उल्लेख करते हैं—

तत्र स्थिर सुखमासनम् (यो. द. 1.2.46)

"जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो, उसको आसन कहते हैं अथवा

जेसी रूचि हो वैसा आसन करे।"

तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्यकं क्रौंचनिषदनं, हस्तिनिषदनं, उष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिर सुख, यथासुखं चेत्येवमादीनि। पद्मासनादिकमासनं विदध्यात् यद्वा यादृशीच्छा तादृशमासनं कुर्यात्।

जैसे—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दण्डासन, आदि। यहां योगाभ्यास के लिए किसी एक प्रकार के आसन का संकेत न करके योगाभ्यास हेतु स्वाभिमत आसन को सिद्ध करने का कथन है जिसमें साधक अधिकाधिक समय तक सुखपूर्वक बैठ सके।

आसन का फल—आसन की सिद्धि का फल बताते हैं—

ततोद्वन्द्वानभिघातः (यो. द. 1.2.48)

"जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पडता हे और न सर्दी-गर्मी अधिक बाधा करती है।" यहां कुछ परिश्रम न करने का अभिप्राय है कि चित्त की एकाग्रता, यम, नियमों के अनुष्ठान के फल की प्राप्ति के उपरांत विशेष प्रयत्न उपासना योग के निमित्त करने की आवश्यकता नहीं रहती और जब आसन भी सिद्ध हो जाता है तब सर्दी-गर्मी भूख, प्यासादि द्वन्द्वों से योगी पीड़ित नहीं होता।

प्राणायाम

आसनसिद्धि के उपरांत उपासना योग का अग्रिम अंग प्राणायाम का लक्षण वर्णित करते हैं—

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः (यो. द. 1.2.49)

"आसन के सिद्ध होने पर जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको श्वास ओर जो भीतर-बाहर जाता है, उसको प्रश्वास कहते हैं, उन दोनों के जाने-आने के विचार से रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही उनको रोकने को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम के लिए आसन का सिद्ध होना आवश्यक है। प्राणायाम के लिए आसन का सिद्ध होना आवश्यक है। क्योंकि बिना आसन के सिद्ध किए प्राणायाम का सुविधापूर्वक अनुष्ठान संभव नहीं हो सकता। साधन की सिद्धि हो जाने पर श्वास-प्रश्वास को विछिन्न करके अर्थात् उनकी स्वाभाविक गति में व्यवधान उपस्थित करके की जाने वाली प्रक्रिया प्राणायाम कहलाती है। इसमें प्राण को अंदर व बाहर सुविधापूर्वक रोका जा सकता है। जिससे प्राणायाम के कई भेद हो जाते है।

प्राणायाम के भेद—श्वास-प्रश्वास के प्रच्छदर्न व विच्छेद से प्राणायाम के कई भेद हैं। सूत्रकार उनके भेदों की परिगणना करता हुआ योग दर्शन में लिखता है—

स तु बाह्याभ्यान्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घ सूक्ष्मः (1.2.50)

"यह प्राणायाम चार (तीन भेद इस सूत्र में वर्णित हैं और चौथा भेद अगले सूत्र

ें वर्णित किया जाएगा) प्रकार का होता है। एक बाह्य विषय, दूसरा आभ्यान्तर और तीसरा स्तम्भ वृत्ति।

बाह्य-विषय—"भीतर से बाहर को श्वास निकले, तब उसको बाहर ही रोक दे इसको प्रथम बाह्य प्राणायाम कहते हैं। "बाह्यविषय अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना।" इस प्राणायाम को रेचक के नाम से भी अभिहित किया जाता है। जिसमें वायु का बाहर की ओर को रेचन किया जाय अर्थात् बाहर निकाला जाय उसे "रेचक" प्राणायाम कहते हैं।

आभ्यांतर विषय—जब बाहर से श्वास भीतर को आवे तब उसको जितना रोक सके भीतर ही रोक दे, इसको दूसरा आभ्यान्तर प्राणायाम कहते हैं। (ऋ. भा. भू.) "भीतर जितना प्राण रोका जाय उतना रोके। इसको (पूरक) प्राणायाम भी कहा जाता है। जिसमें वायु बाहर से अंदर को भरी जाय, पूर्ण की जाय, वह प्राणायाम "पूरक" कहलाता है।"

स्तम्भवृत्ति—तीसरा प्राणायाम स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर ले जाय। किन्तु जितनी देर सुख से रहो उसको जहां का तहां ज्यों का त्यो एकदम रोक दें। (ऋ. भा. भू.) इस प्राणायाम को करने की विधि का निर्देश देते हुए सत्यार्थ-प्रकाश में लिखते हैं—"एक ही बार जहां का तहां प्राण को यथाशक्ति रोक देना। इस प्राणायाम को "कुम्भक" भी कहते हैं। जिसमें रेचक और कुम्भक दोनों का अभाव हो प्राण को रेचक अथवा पूरक के अनन्तर जहां का तहां रहने दिया जाय वह "कुम्भक" प्राणायाम है। जैसे घट (कुम्भ) में भरा हुआ पानी निश्चल होकर एक स्थान पर रहता है। ऐसे ही प्राण, अंदर-बाहर न जाकर जब एक ही स्थान पर रहता है। ऐसे ही प्राण, अंदर-बाहर न जाकर जब एक स्थान पर स्थिर हो जाता है उसे कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। कुम्भक भी सहकुम्भक और शुद्ध कुम्भक भेद से दो प्रकार का है। प्राण को अंदर या बाहर एक स्थान पर रोके रखना कुम्भक कहलाता है रेचक के अनन्तर जब प्राण कुम्भक में बेचैन होने लगे तब बेग के साथ वायु को पूर्ण किया जाता है पूरा वायु खींच लिए जाने पर प्राणायाम पूरा होता है। इसमें रेचक के बाद कुम्भक और पूरक के बाद कुम्भक ये दोनों यथाक्रम बाह्य और आभ्यांतर प्राण-वायु की अपेक्षा रहते हैं सापेक्ष होने पर इन्हें सहकुम्भक कहा जाता है। शुद्धकुम्भक का विवेचन अग्रिमसूत्र में किया जाएगा। यह तीनों प्रकार का प्राणायाम जैसे-जैसे साधक योगी का अभ्यास बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे देश, काल और संख्या द्वारा दीर्घ और सूक्ष्म अर्थात् लम्बा व हल्का होता चला जाता है। अतः परिमाणयुक्त कहा गया है। महर्षि दयानंद ने स्वानुभव से प्राणायाम करने की विधि का उल्लेख सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में इस प्रकार किया है—

"जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर जल बाहर निकल जाता है वैसे प्राण को बल से बाहर फेंक के बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे, तब

मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच के वायु को बाहर फंक दें। जब तक मूलेन्द्रिय को ऊपर खीच रखे, तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो तब धीरे-धीरे भीतर वायु को लेके फिर भी वैसे ही करता जाय, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो और मन में ओ३म् इसका जाप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।"

उपर्युक्त पंक्तियों में बाह्य आभ्यांतर स्तम्भ वृत्ति और बाह्या-भ्यान्तर विषयाक्षेपी, चारों प्रकार के प्राणायाम को करने की विधि का निर्देश किया है। उन्होने प्राणायाम करने के साथ-साथ ओ३म् (प्रणव) के जप का भी विधान किया है। जिससे आत्मा तथा मन की पवित्रता व स्थिरता दोनों बनी रहती है। अतः प्राणायाम उपासना योग का अंग है। बाह्य आभ्यान्तर और स्तम्भवृत्ति त्रिविध प्राणायामों की विधि का वर्णन करके चतुर्थ प्राणायाम के सम्बन्ध में सूत्रकार कहता है–

बाह्याभ्यान्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः (यो. द. 2.51)

"जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ-कुछ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर आवे तब उसको भीतर ही थोड़ा-थोड़ा रोकता रहे। इसको बाह्याभ्यान्तरविषयाक्षेयी" कहते है।" (ऋ. भा. भू.)। इसी सूत्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द सत्यार्थप्रकाश मे लिखते है–

"चौथा प्राणायाम बाह्याभ्यान्तर विषयाक्षेयी अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकले लगे, तब उसके विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिए बाहर से भीतर ले ओर जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाये। यह प्राणायाम "कुम्भक" का दूसरा भेद "शुद्धकुम्भक" कहलाता है। पूर्ववर्णित सहकुम्भक के करने में रेचक और पूरक की अपेक्षा रहती है। जब रेचक-पूरक के बिना कुम्भक किया जाय, स्वाभाविक प्राणवायु जहां चल रहा है, वहीं इसको रोकने का प्रयोग, "शुद्धकुम्भक" कहा जाता है। इस कुम्भक का प्रयोग प्रारम्भ करने पर जब प्राण उद्विग्न होने लगता है, तब वेगपूर्वक प्राण वायु बाहर से भीतर को खिंचता हे। फिर दो-तीन बार श्वास प्रश्वास लेकर पुनः इनका प्रयोग किया जाये। इसमें प्राण की बेचैनी जल्दी और अधिक आती है, इसके कारण चित्त की एकाग्रता मे उपयुक्त सहयोग मिलता है।

प्राणायाम के लाभ–इन चारों का अनुष्ठान इसलिए है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे। प्राणायाम के लाभ का वर्णन है–

तातः क्षीयते प्रकाश वरणम् यो. द. 2.51 "इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का आवरण ढांपने वाला जो अज्ञान है, वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है।" (ऋ. भा. भू.)

"ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश मे होने से मन और इन्द्रियां भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्म

रूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर, बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।" (सत्यार्थ प्रकाश समु. 3)

"जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।" (स. प्र. समु. 3)

"अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं के मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं। वैसे—प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं।"

प्राणायाम का फल—प्राणायाम का लक्षण, भेद, विधि और लाभों का वर्णन करने के पश्चात् महर्षि दयानंद प्राणायाम के फल का उल्लेख करते हुए योगदर्शन का अधोलिखित सूत्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उद्धृत करते हैं—

धारणासु च योग्यता मनसः (यो. द. 1.2.53)

इस सूत्र के आर्य भाषानुवाद में वे लिखते हैं कि "उस अभ्यास से यह फल होता है कि परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्ष पर्यन्त उपासना योग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है।"

प्रत्याहार

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः (यो. द. 1.2.54)

यदा चित्तं जितं भवति, परमेश्वरस्मरणालम्बनाद्विषयान्तरे नैव गच्छति, तदेन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थान्निरोधो भवति। कस्य केषामिव? यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति तथैवेन्द्रियाण्ययर्थाच्चित्तेजिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम्।

"प्रत्याहार उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलानेवाला है।"

पूर्वसूत्रों के व्याख्यान में कहा गया है कि प्राणायाम आदि के द्वारा आत्मा और मन शुद्ध व एकाग्र हो जाते हैं इस अवस्था में मन की एकाग्रता के उपरांत इन्द्रियां भी वश में हो जाती है। जिससे बाह्येन्द्रियों का मन से सम्पर्क न होने के कारण विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती तब उपासक योगी का ध्यान जब अन्यत्र होता है तब वह देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता क्योंकि जब यह मन शुद्ध होकर आत्मचिन्तन में लीन हो जाता है तब ये नेत्रादि इन्द्रियां विषयों से सम्बद्ध होकर भी उनका ज्ञान नहीं करा सकतीं। योग की यही अवस्था "प्रत्याहार" कहलाती है। प्रत्याहार में इन्द्रियों का स्वविषयसम्बन्ध असम्बन्ध के समान होकर इन्द्रियां चित्त के अनुरूप जैसी स्थिति को प्राप्त हो जाती हैं।

प्रत्याहार का फल– प्रत्याहार के फल का सूत्रकार कथन करता है–

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् (यो. द. 1.2.55)

ततस्तदनन्तरं स्वविषयासंप्रयोगेऽर्थात्स्वविषयान्निवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमा वश्यता यथावद् विजयो जायते। स उपासको यदा यदेश्वरोपासनं कर्तुं प्रवर्त्तते, तदा तदैव चित्तस्येन्द्रियाणां च वश्यत्वं कर्तुं शक्नोति।

"तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे, उसी में ठहरा और चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं।"

योग के इस स्तर पर पहुंचकर उपासक की इन्द्रियां पूर्णतया मन के वश में हो जाती हैं और रागद्वेष का सर्वथा अभाव होने पर सुख-दुःख से रहित होकर चित्त की एकाग्रतावश सत्य के आचरण में प्रवृत्त हो जाता है। यही प्रत्याहार का फल है।

धारणा

यम से लेकर प्रत्याहार तक योग के वहिरंग साधनों को कहकर योग के अन्तरंग साधनों में से प्रथम धारणा का लक्षण है–

देशबंधचित्तस्य धारणा (यो. द. 3.1)

भा.–नाभि चक्रे हृदय पुण्डरीके, मूर्ध्नि, ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृथितमात्रेण बन्ध इति बन्धो धारणा बाह्यविषये अर्थादोंकारे विन्दौ वा।

इसके आर्यभाषानुवाद में महर्षि दयानंद ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते है–"जब उपासना के पूर्वोक्त पांचों अंग सिद्ध हो जाते हैं, तब उसका छठा अंग 'धारणा" भी यथावत् प्राप्त होता है। "धारणा" उसको कहते हैं कि मन को चंचलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है उसका विचार करना।" योगदर्शन के रचयिता ने चित्त को स्थिर करने के विभिन्न उपाय बतलाते हुए साधक को यथेष्ट प्रकार से चित्त की स्थिरता प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रथमाध्याय में विशेष वर्णन किया है जिसमें निम्नलिखित सूत्र महर्षि दयानन्द ने हुगली शास्त्रार्थ में उद्धृत किया है–

यथाभिमतध्यानाद्वा यो. द. 1.1.39. अर्थात् इससे लेके निद्रा ज्ञानावलम्बनं यहां तक शरीर में जितने चित्त के स्थिर करने के वास्ते स्थान हैं इनमें किसी स्थान में योग को धारण करे। जिस स्थान में अपनी अभिमति, उसमें चित्त को ठहराये। अतः साधक किसी भी क्षेत्र में चित्त की एकाग्रता के लिए प्रयत्न कर सकता है। चित्त वृत्तियों को बाध कर धारणा की स्थिति को प्राप्त करने के सन्दर्भ में महर्षि दयानन्द शास्त्रार्थ में

धारणा विषयक सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं–

"नाभि, हृदय, मूर्धाज्योति अर्थात् नेत्र, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इत्यादि देशों के बीच में चित्त को योगी धारण करे। तथा बाह्य विषय जैसा कि ओंकार या गायत्री मंत्र इनमें चित्त लगावें। क्योंकि **तज्जपस्तदर्थभावनम्** (यो. द. 1.28) यह सूत्र योग का है। इसका योगी जप अर्थात् चित्त में पुनः पुनः आवृत्ति करे और इसका अर्थ जो ईश्वर हैं उसको हृदय में विचारे। **तस्यवाचकः प्रणवः** (यो. द. 1.27) ओंकार का वाच्य ईश्वर है और उसका वाचक ओंकार है। बाह्य विषय में इनको ही लेना और कोई नहीं। क्योंकि अन्य प्रमाण कहीं नहीं।"

उपर्युक्त दोनों सन्दर्भों में महर्षि दयानन्द ने चित्त की धारणा को कहां टिका कर लक्ष्य विशेष की प्राप्ति हो सकती है, इसका विश्लेषण किया है। धारणा के साथ-साथ प्रणव के जप का भी विधान किया गया है जिससे चित्त की स्थिरता में सहाय प्राप्त होता है और यथानिश्चित अंग में चित्त को बांध देने से "धारणा" नाम योग के अंग की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। धारणा में चित्त की एक विषय में एकाग्रता व स्थिरता प्राप्त हो जाती है जिसे अधिकाधिक समय तक बनाए रखने हेतु अभ्यास किया जाना आवश्यक है।

ध्यान

धारणा के उपरांत योगांगों में ध्यान का स्थान है। ध्यान की परिभाषा करते हुए महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं–

तत्र प्रत्यैकतानताध्यानम् (यो. द. 1.3.2)

भा. तस्मिन्देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेण परामृष्टो ध्यानम्।

"धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान मे मग्न हो जाना। इसी का नाम ध्यान है। ध्यान विषयक प्रकृत सूत्र की विवेचना के प्रसंग में शास्त्रार्थ में वे कहते हैं–

"उन देशों में अर्थात् नाभि आदिकों में ध्येय जो परम आत्मा उस आलम्बन की ओर चित्त की एकतानता अर्थात् परस्पर दोनों की एकता, चित्त आत्मा से भिन्न न रहे तथा आत्मा चित्त से पृथक् न रहे, उसका नाम है–सदृश प्रवाह। जब चित्त चेतन से ही युक्त रहे अन्य प्रत्यय कोई पदार्थान्तर का स्मरण न रहे, तब जानना कि ध्यान ठीक हुआ है।"(दयानंद शास्त्रार्थ संग्रह) उन्होंने यहां स्पष्टतया ध्येय परमात्मा को कहा है और उसी ध्येय के ही स्वरूप व ज्ञान में आत्मा और चित्त की अभिन्नता होने पर

पदार्थान्तर का स्मरण न होने की स्थिति में "ध्यान" माना है। उस अवस्था का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं--

"हृदय में परमाणु पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनको योग ज्ञान से योगी जानता है बाहर के पदार्थों से किंचित् मात्र भी ध्यान नहीं रखता, किन्तु आत्मा से ही ध्यान का सम्बन्ध है और कहीं से नहीं। (दयानंद शास्त्रार्थ संग्रह)

ध्यानावस्थित योगी का सम्बन्ध समस्त बाह्य पदार्थों से टूटकर आत्मा से ही सम्बद्ध हो जाता है। महर्षि दयानंद वैदिक सिद्धान्तानुसार ईश्वर को निराकार मानते है और निराकार ईश्वर का योगाभ्यास के द्वारा ध्यान कैसे किया जा सकता है इस सम्बन्ध में सत्यार्थ प्रकाश के 11वें समुल्लास में उल्लेख है--

प्रश्न--मूर्त पदार्थों के बिना ध्यान कैसे करते बनेगा?

उत्तर--शब्द का आकार नहीं तो भी शब्द ध्यान में आता है वा नहीं? आकाश का आकार नहीं तो भी आकाश का ज्ञान करने में आता है वा नहीं? जीव का आकार नहीं तो भी जीव का ध्यान होता है वा नहीं? ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये नष्ट होते ही जीव निकल जाता है यह किसान (साधारण मनुष्य) भी समझता है। साकार का ध्यान कैसे करोगे? साकार के गुणों का ज्ञानाकार होने तक ध्यान नहीं बनता अर्थात् संभव नहीं होता कि ज्ञान के पहले ध्यान हो जाये। देखो, एक सूक्ष्म परमाणु के भी अधम, उत्तम और मध्यम ऐसे अनेक विभाग ज्ञान-बल से कल्पना में आते हैं। अब कोई ऐसा कहे कि मुट्ठी में क्या पदार्थ है? तो विदित होने तक ढकी हुई मुट्ठी की ओर देखने से ही उस पदार्थ का ध्यान कैसे करें? तो मेरा यही कहना है कि प्रत्यक्ष के सिवाय उस पदार्थ को जानने के लिए और भी दृढ़तर सबल उपाय है। देखो अनुमान''' । अनुमान के सम्मुख प्रत्यक्ष की क्या प्रतिष्ठा है।" (उपदेश मंजरी)

ध्यान के सन्दर्भ में यहां महर्षि दयानन्द ने योगदर्शन के आधार पर सर्वान्तयामी, निराकार, क्लेश कर्मादि विपाकों से रहित ईश्वर के सर्वोत्कृष्ट नाम प्रणव (ओ3म्) का ही ध्यान करने की पद्धति का प्रतिपादन करके प्राचीन एवं शास्त्रानुमोदित वैदिक परम्परा को समृद्ध किया है। अतः योगाभ्यासी को 'ओ3म्' का ध्यान करना चाहिए।

निराकार ईश्वर का ध्यान कैसे किया जाता है एतद्विषयक शंकाओं का उन्होंने इस प्रकार निराकरण किया है--

प्रश्न--परमेश्वर निराकार है वह ध्यान में नहीं आ सकता, इसलिए अवश्य मूर्ति होनी चाहिये''' ।

उत्तर--जब परमेश्वर निराकार, सर्वव्यापक है तब उसकी मूर्ति ही नहीं बन सकती''' । जो तुम कहते हो कि मूर्ति के देखने से परमेश्वर का स्मरण होता है, यही तुम्हारा कथन सर्वथा मिथ्या है और जब यह मूर्ति सामने न होगी तो परमेश्वर के स्मरण न होने से मनुष्य एकान्त पाकर चोरी जारी आदि कुकर्म करने में प्रवृत्त भी हो सकता है, क्योंकि वह जानता है कि इस समय यहां मुझे कोई नहीं देखता। इसलिए

वह अनर्थ करे बिना नहीं चूकता"। जो पाषाणादि मूर्तियों का न मानकर सर्वदा सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी परमात्मा को सर्वत्र जानता और मानता है वह पुरुष"कुकर्म करना चाहे तो कहां रहा किन्तु मन में कुचेष्टा भी नहीं कर सकता।"

ईश्वर को सर्वव्यापक सर्वान्तयामी आदि गुणों से अभिभूत मानकर उपासक योगी का अहिंसा, द्वेषादि योग के अन्तरायों से बचने में भी सहायता मिलती है जिससे चित्त को एकाग्र करके स्थिर करना और भी सरल हो जाता है।

ध्यान का विश्लेषण करते हुए एक बार महर्षि दयानंद ने उदयपुर के महाराणा का कहा था—"कोई चीज मानकर ध्यान नहीं करना चाहिए। ईश्वर सर्वशक्तिमान, सृष्टिकर्ता, सृष्टि को एक क्रम में चलाने वाला, नियन्ता, पालनकर्ता और ऐसे ही अनेक ब्रह्माण्डों का स्वामी और नियन्ता है, ऐसी-ऐसी उस की महिमा का स्मरण करके अपने चित्त में उसकी मानता का ध्यान करना चाहिए। अर्थात् इसी प्रकार समस्त विशेषणों से युक्त परमेश्वर को स्मरण करके उसका ध्यान करना और उसकी अपार महिमा का वर्णन करना"यह ध्यान है।" ध्यान विषयक सन्दर्भों में स्वामीजी ने ओ३म् का ही ध्यान किया जाना श्रेयस्कर है इस पर विशेष बल दिया है जो कि सर्वथा योगादर्शन प्रतिपादित एवं वैदिक सिद्धान्तानुकूल है। क्योंकि प्रणव का ईश्वर से वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। अतः मोक्ष प्राप्ति एवं समाधि की सिद्धि के लिए ईश्वरीय सर्वोत्कृष्ट नाम ओ३म् का जप ही उपासना योग में आवश्यक है। इस प्रकार जिस देश में चित्त को बांधा या धारण किया जाता है उसी लक्ष्य प्रदेश मे प्रत्यय ज्ञान वृत्ति की एकतानता अर्थात् एकाग्रता बनी रहने से ध्यान नामक सप्तम योगांग सिद्ध हो जाता है।

समाधि

उपासना योग के अंगों की विवेचना करते हुए महर्षि दयानन्द समाधि के स्वरूप का वर्णन करने के उद्देश्य से दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह अगला सूत्र उद्धृत करते हैं—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः (यो. द. 1.3.3)

भा. ध्यानसमाध्योरयं भेदः। ध्याने मनसो ध्यातृध्यान ध्येयाकारेण विद्यमाना, वृत्तिर्भवति समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति।

"इन सात अंगों का नाम समाधि है। जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान मे प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनंद और ज्ञान से परिपूर्ण करने को "समाधि" कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला जिस मन से, जिस चीज का ध्यान करता है, वे तीनों विद्यमान रहते है। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनंदस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहां तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय

भीतर ही रुका रहता है वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच मग्न हो के फिर बाहर को आ जाता है।"

"जब ध्याता, ध्यान और ध्येय इन तीनों का पृथक् भाव न रहे, तब जानना कि समाधि सिद्ध हो गई। अर्थात् समाधि अवस्था में ध्याता (आत्मा) और ध्यान (साधन) तथा ध्येय (परमात्मा) का पृथक् भाव समाप्त हो जाता है। समाधि-अवस्था के सन्दभ मे दयानन्द अन्यत्र कहते हैं–"इससे निर्मल प्रकाशस्वरूप चित्त होता है। जैसा सूक्ष्म विभु आकाश है, वैसी ही योगी की बुद्धि होती है। तब नाम अपने हृदय में विशाल स्थिति के होने से बुद्धि की जो शुद्ध प्रवृत्ति, सोई बुद्धि, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि, इन्हा की जैसी प्रभा, वैसी ही योगी की बुद्धि समाधि में होती है।" (दयानंद शास्त्रार्थ संग्रह)

समाधि दशा मे ध्येय केवल आत्मतत्व रहता है, आत्मा में अतिरिक्त अन्य कोई प्रकृतितत्व नहीं। यह दशा जल में डुबकी लगाने के समान अथवा अग्नि में पड़े लोहे के समान होती है। क्योंकि इस दशा में योगी परमात्मा के आनंद में मग्न और परमेश्वर के ज्ञान से प्रकाशमान हो जाता है। और जब ध्याता (आत्मा), ध्येय (परमात्मा) के स्वरूप में लीन होकर केवल ध्येय के अर्थमात्र को भासता है तब वह समाधि है। योग के आठ अंगों को बहिरंग और अन्तरंग दो भेदों में निम्नलिखित प्रकार से विभक्त किया गया है–यमादिक पांच अंगो से धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अन्तरंग ह ओर यमादिक बहिरंग हैं।" (दयानंद शास्त्रार्थ संग्रह)

ध्रुवे तद्गतिविज्ञानम् (यो. 3.29) इत्यादि सूत्रों से यह प्रसिद्ध जाना जाता है कि धारणादि तीन अंग आभ्यान्तर के हैं। सो हृदय में ही परमाणु पर्यन्त जितने पदाथ हे उनको योग ज्ञान से ही योगी जानता है। बाहर के पदार्थों से किंचिन्मात्र ध्यान का सम्बन्ध है और से नहीं। इस विषय में कोई अन्यथा कहे, सो उसका कहना सब सज्जन मिथ्या ही जाने। क्योंकि **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** (1.2) **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्** (यो. द. 1.3) अर्थात् जब योगी चित्त वृत्तियों का निरोध करता है, बाहर और भीतर से उसी वक्त द्रष्टा, जो आत्मा उसके चेतन स्वरूप में ही स्थिर हो जाता है, अन्यत्र नही।" यहां उन्होंने योगदर्शन के सूत्रों के आधार पर ही बहिरंग व अन्तरंग योग का कथन किया है।

ध्येय ईश्वर ध्याता में किस तरह से व्याप्त रहता है उस सम्बन्ध मे छान्दोग्योपनिषद् (प्रपा. 8. खं 1 म. 3) की व्याख्या में महर्षि दयानंद लिखते हैं–

"हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है? और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य आदि प्रकाश तथा पृथिवी लोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजुली और सब नक्षत्र लोक भी ठहर रहे हैं। जितने दिखने वाले और नही दिखने वाले पदार्थ हैं, वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं।

उपरोक्त वर्णन के अनुसार ही उस अन्तर्यामी परमात्मा का ध्यान हृदयआदि स्थानों में करके समाधिस्थ होने के लिए कहा गया है। जब उपासक योग के पाच

हिरंग अंगों और तीन अन्तरंग अंगों की सिद्धि करके समाधि दशा को प्राप्त कर लेता तब उसे बहिरंग अंगों की सिद्धि से अन्तरंग अंगों की सिद्धि प्राप्त होती है। त्पश्चात् धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन अन्तरंग अंगों से क्या फ.ा प्राप्त होता : उसका वर्णन करने के लिए वे योगदर्शन का अधोलिखित सूत्र उद्धृत करते हैं—

त्रयमेकत्र संयमः (यो॰ द॰ 3.4)

भा॰—तदेतद् धारणाध्यान समाधि त्रयमेकत्र संयमः। एकविषयाणित्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति। सयमश्चोपासानाया नवमांगम्।

"जिस देश मे धारणा की जाय, उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है, उनमें बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है, तब आनंद के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है। (ऋ॰ भा॰ भू॰)

धारणा, ध्यान और समाधि का एकविषय होना ही संयम कहा गया है। अतः यह कहा जा सकता है कि अष्टांग योग सिद्धि से संयम की प्राप्ति होती है और फिर संयम से ही भिन्न-भिन्न विभूतियो को योगी प्राप्त करता है। सयम से योगी जिन विभूतियों को प्राप्त करता है योग-दर्शन में उनका परिगणन किया गया है।

विभूतिपाद में वर्णित सिद्धियों के आधार पर महर्षि दयानंद ने धारणा, ध्यान और समाधि के फल संयम से प्राप्त होने वाली विभूतियों का कथन करते हुए "शास्त्रार्थ हुगली" में बहिरंग और अन्तरंग योग का कथन करके संयम से प्राप्त विभूतियों का वर्णन किया है।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के आलोक में संयम की स्थापना करने से अर्थात् साक्षात्कार पर्यन्त संयम करने से सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। ऐसे सूक्ष्म पदार्थ—जिनका बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता—ज्योतिष्मती प्रवृत्ति से प्रत्यक्ष हो जाते हैं। योगी सूक्ष्म पदार्थों के साथ दिव्यालोक सम्पर्क स्थापित करके उनका प्रत्यक्ष कर लेता है। इसी प्रकार दूरस्थ पदार्थों का भी योगी को प्रत्यक्ष हो जाता है।

इसी क्रम में संयम से प्राप्त होने वाली विभूति का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् (यो॰ द॰ 3.26)

महर्षि दयानंद ने इस सूत्र का अर्थ नहीं किया है विभूतिपाद में सूर्य, चन्द्रादि में संयम करने के प्रकरण का लगभग समस्त भाष्यकारों ने भौतिक सूर्य व चन्द्रादि मे संयम करने का उल्लेख किया है। परन्तु इस सम्बन्ध में महर्षि दयानंद इससे सहमत प्रतीत नहीं होते हैं। हुगली शास्त्रार्थ में विभूति विषयक सूत्रों के कथन के उपरांत

महर्षि दयानंद भौतिक सूर्यादि मे संयम करने की अवधारणा का खण्डन करते हुए कहते हैं

"इत्यादिक सूत्रों से यह प्रसिद्ध जाना जाता है कि धारणादि तीन अंग आभ्यातर के हैं। सो हृदय में ही परमाणु पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनको योग-ज्ञान से ही यागी जानता है। बाहर के पदार्थों से किंचितमात्र भी ध्यान में सम्बन्ध योगी नही रखता, किन्तु आत्मा से ही ध्यान का सम्बन्ध है और से नहीं। इस विषय मे जो कोई अन्यथा कहे सो उसका कहना सब सज्जन लोग मिथ्या ही जाने। क्योंकि–

योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः (यो. द. 1.2) तदाद्रष्टु स्वरूपे ऽ वस्थानम् (यो. द. 1 3) जब योगी चित्त वृत्तियों का निरोध करता है, बाहर और भीतर से उसी वक्त द्रष्टा, जो आत्मा उसके चेतन स्वरूप में स्थिर हो जाता है, अन्यत्र नहीं।" (दयानंद शास्त्रार्थ सग्रह) इसी प्रकरण को और भी स्पष्ट करते हुए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में उपनिषद् वाक्य "स ब्रूयाद यावान् वा अययाकाशः"...इत्यादि छान्दोग्योपनिषद् प्रपा. 8 खं. 1 मं. 3 का अर्थ करते हुए दयानंद लिखते हैं–

"हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है। और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य आदि प्रकाश तथा पृथ्वी लोक, अग्नि, वायु चन्द्र बिजली और सब नक्षत्र लोक भी ठहर रहे हैं। जितने दिखने वाले और नहीं दिखने वाले पदार्थ हैं, वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं। (ऋ. भा. भू.)

महर्षि दयानंद के उपरोक्त कथन और व्याख्याओं से यही स्पष्ट होता है कि वे योगदर्शन के विभूति पाद में वर्णित सूर्य, चन्द्र आदि को ब्रह्माण्ड के ग्रह नक्षत्र न मानकर शरीरस्थ एवं हृदयाकाश में मानते हैं।

अतः शरीर में विद्यमान सूर्य चन्द्रादि में संयम करने से सिद्धि प्राप्त होती है। यही महर्षि दयानंद को अभिमत है।

इससे स्वामी दयानंद का व्यासभाष्य के साथ विरोध प्रतीत होता है जब कि महर्षि व्यास भाष्य को प्रामाणिक मानते हैं। इस विरोध का समाधान करते हुए विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस सूत्र के व्यास भाष्य मे वर्णित, पृथ्वी से ऊपर छ लोक, सात नरक, सात पाताल समुद्र और पालाल मे देवताओं का निवास, मृतकश्राद्ध मे अग्निष्वात्त आदि पितरों के निमंत्रण एवं पातालतलोक में भूत-प्रेतों के निवास आदि प्रसग परवर्ती प्रक्षेप हैं जो कि पौराणिक मतों पर आधारित हैं।"

इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर स्वामी दयानंद की संयम से प्राप्त विभूतियो से सम्बन्धित विचारणा पुष्ट हो जाती है। अतः दयानन्दीय दृष्टिकोण से उपरोक्त सूत्र का अर्थ है–"सूर्य नामक शरीरस्थ इड़ा नाड़ी में संयम करने से योगी को भुवन-ज्ञान हो जाता है।" इससे पूर्व योग के पांच बाह्य और तीन अन्तरंग अंगों का वर्णन किया जा चुका है। जिससे यह भी स्पष्ट होता है कि संयम किसी बाह्य वस्तु में करना योग-दर्शन के विरूद्ध है। इस भौतिक शरीर में तीन नाड़ियां हैं–इडा, पिंगला और

सुषम्णा। इन्ही तीन नाडियो को क्रमश: सूर्य, चन्द्र और ध्रुव शब्दों से अभिहित किया गया है अर्थात् इडा को सूर्य, पिंगला को चन्द्र और सुषम्णा को ही ध्रुव नाडी के नाम ग्रहण करना चाहिए। इनमें प्रथम इडा सूर्य जो शरीर के दक्षिणभाग से शुरु होकर ऊपर उत्तरभाग तक जाती है। इस नाड़ी में संयम किए जाने पर योगी को सम्पूर्ण भुवन का ज्ञान हो जाता है। योगी के द्वारा प्राप्तव्य एक अन्य विभूति का कथन करने के लिए स्वामी दयान्नद निम्नांकित सूत्र का कथन करते हैं—

ध्रुवे तद्गति ज्ञानम् (यो. द. 3.28)

इससे पूर्व सूत्रं में कहा गया है कि चन्द्र अर्थात् शरीरस्थ पिंगला नाडी में सयम करके योगी ताराओं के व्यूह स्थिति क्रम को जान लेता है। पिंगला जो शरीर के बाये भाग से आरम्भ होकर ऊपर उत्तरभाग तक जाती है, वह चन्द्र है। इसी नाडी में सयम करने से ताराव्यूह का ज्ञान होता है। उपरोक्त सूत्र का अर्थ है कि—"ध्रुव अर्थात् इडा और पिंगला इन दोनों के मध्य नाडी, जो रीड की हड्डी से होकर गई है—ध्रुव कहलाती है। इसमें संयम करने से तारों की गति का ज्ञान होता है।" इस प्रकार इनमें सयम करने से भुवन, नक्षत्र तथा उनकी गतियों का ज्ञान होता है। क्योंकि मनुष्य का शरीर ब्रह्माण्ड का ही सूक्ष्म रूप है। सुषुम्णा शरीर की मुख्य नाड़ी है और समस्त सूर्यादि चक्र इसी में स्थित हैं इसलिए इनमें संयम करने से समस्त शरीर का ज्ञान हो जाता है और शरीर के ज्ञान से बाह्य ब्रह्माण्ड का भी ज्ञान हो जाता है। मूर्ध ज्योति में सयम करने एवं उसके फल का कथन प्रस्तुत सूत्र में इस प्रकार से किया है—

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् (यो. द. 3.32)

सिर के कपाल के भीतर एक छिद्र अतिशय चमकीले प्रकाश वाला है जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। उसमें संयम करके योगी को द्युलोक और पृथ्वीलोक के बीच मे विचरने वाले सूक्ष्म पदार्थो का साक्षात्कार हो जाता है। अर्थात् सिर में दोनों कपालो के मध्य में एक ऐसा छिद्र है जो अतीव प्रबल प्रकाशयुक्त है। जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हे। इस मूर्धस्थ ज्योलि को ही मूर्धज्योति कहा गया है।

योगदर्शन के पूर्वोक्त सूत्रों के अर्थ में स्वामी दयानंद जी ने नाडियों में ध्यान करना लिखा है इसका अर्थ है कि विषयवती प्रवृत्ति के लिए जैसे नासिका के अग्रभाग आदि में ध्यान करना अपेक्षित होता है, इसी प्रकार ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के लिए सुषुम्णा नाडी के विभिन्न केन्द्रों में ध्यान करना श्रेयस्कर होता है। सुषुम्णा का स्थान ब्रह्मरन्ध्र से लेकर पीछे की ओर रीढ की अस्थि के अन्तर्गत त्रिक स्थान तक पहुंचता है। इनमे ध्यान व उपासना का सर्वश्रेष्ठ केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र है। संयम से प्राप्त विभूतियों का व्याख्यान करते हुए स्वामी दयानंद शास्त्रार्थ संग्रह में कहते हैं--**प्रतिभाद्वा सर्वम्** प्रतिभ ज्ञान को तारक ज्ञान भी कहा जाता है अर्थात् जो योगी को विवेकज्ञान होने से पूर्व बिना उपदेश के अपनी प्रतिभा से उत्पन्न होता है, वह विवेक ज्ञान का पूर्व रूप होता

है। जैसे--सूर्योदय होने पर उसका ज्ञापक चिन्ह प्रभा होती है वैसे ही विवेकख्याति से पूव प्रातिभज्ञान होता है। इस प्रातिभज्ञान की उत्पत्ति होने पर योगी सब कुछ जान लेता है। अर्थात् प्रातिभ ज्ञान सूर्योदय के प्रथम ज्ञापक चिन्ह प्रभा के समान है। योगी को जब विवेकज ज्ञान होने लगता है, तब वह उस का प्रातिभज्ञान कहलाता है। व्यासभाष्य में प्रातिभज्ञान को तारक ज्ञान कहा है, जो योगी को उत्तरोत्तर योगमार्ग पर चलने पर बाधाओं अथवा भ्रांतियों से पार करने के कारण तारक ज्ञान बनता है। सूत्र मे "सर्वम्" शब्द सापेक्ष है। जिसका तात्पर्य पूर्वोक्त विभूतियों से है। प्रातिभ-ज्ञान से पूर्वकथित एक-एक स्थान पर किये गये संयम से जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं, वे सब योगी को प्राप्त हो जाती हैं।

पचक्लेश

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के "मुक्तिविषय" में स्वामी दयानंद लिखते है-- 'परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश अधर्म्माचरण आदि दुष्ट गुणो का निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके, जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।''चित्त की पाच बृत्तियों को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब दिन प्रवृत्त रहने से, नीचे लिखे पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। क्लेश ये हैं--**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेश पंचक्लेशाः** (यो. द. 1.2.3)

एक अविद्या, दूसरा अस्मिता, तीसरा राग, चौथा द्वेष और पांचवां अभिनिवेश।

अविद्या का वर्णन महर्षि दयानन्द ने योगदर्शन के सूत्र के भाष्य में सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में किया है। वे कहते हैं--"इनमें अविद्या का स्वरूप कह आये है पृथक् वर्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना अस्मिता, सुख में प्रीति राग, दु ख मे अप्रीति द्वेष, और सब प्राणिमात्र को यह इच्छा सदा रहती है कि मैं सदा शरीरस्थ रहू, मरूं नहीं, मृत्यु दुःख से त्रास अभिनिवेश कहाता है। इन पांच क्लेशों को योगाभ्यास विज्ञान से छुड़ाके ब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति के परमानंद को भोगना चाहिये।"

अविद्या

चारों क्लेशों का मूल कारण है अविद्या। अतः सूत्रकार सर्वप्रथम अविद्या का लक्षण कहते हैं--

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त तनुविच्छिन्नोदाराणाम् (यो. द. 1.2.3)

"अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है, जो कि मूढ जीवों को अंधकार में फंसा के जन्ममरणादि दुःख सागर में सदा डुबाती है। परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या अविद्या विच्छिन्न अर्थात् छिन्न-भिन्न होके (प्रसुप्ततनु) नष्ट हो जाती है तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं।"

अविद्या ही प्रसुप्त, तनु, विछिन्न और उदार रूप में उपलब्ध होने वाले अस्मिता, राग द्वेप और अभिनिवेश का मूल कारण है। "प्रसुप्त" क्लेश उस समय कहे जाते है जब वे अपना कार्य नहीं कर रहे होते हैं, संस्कार रूप में सोये पड़े रहते हैं। "तनु" उस समय कहलाते हैं, जब क्रियायोग आदि के अनुष्ठान से उन्हें मंद व शिथिल बना दिया जाता है। "विछिन्न" वे तब हैं, जब सजातीय अथवा विजातीय संस्कारों से दबे हुये रहते हैं। "उदार" वे उस समय हैं, जब उनके भोग का वर्तमान काल है। अपने पूरे वेग से उभर कर कार्यरत रहते हैं। ये क्लेश इन्हीं अवस्थाओं में परिवर्तित होते रहते ह और प्रसुप्तादि अवस्थाओ में रहते हुये यथावसर फलोन्मुख होने के लिए सन्नद्ध रहते हैं। सब क्लेशों के मूल अविद्या का प्रतिपादन करने के लिए महर्षि दयानन्द सूत्र उद्धृत करते हैं—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या (यो. द. 1.2.4)

अनित्य अर्थात् कार्य जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोकलोकान्तर मे नित्यबुद्धि तथा नित्य अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया, गुण, गुणी और धम-धर्मी हैं इन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है, इनमें अनित्य बुद्धि का होना यह अविद्या का प्रथम भाग है। तथा अशुधि मल मूत्र आदि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्र बुद्धि का करना तथा तलाब, बावरी, कुण्ड, कुआं और नदी आदि मे तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना और उनका चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या व्रतो में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना, स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धम, सत्संग परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सब से प्रेमभाव से बर्तना आदि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना, यह अविद्या का दूसरा भाग है। तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता निष्काम, शम, संतोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःख बुद्धि का करना, यह अविद्या का तीसरा भाग है। इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड मे चेतन भावना और चेतन में जड़भावना करना, अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बंधन का हेतु होके उन को सदा नचाती रहती है। परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दुःख और अनात्मबुद्धि का होना, तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा मे नित्य पवित्रता, सुख और आत्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की विद्या है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, तब बंधन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।"

उपर्युक्त पंक्तियों में उन्होंने अविद्या के स्वरूप की विवेचना करते हुए विद्या के स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है इस संदर्भ में वर्णित चार भेदों के द्वारा अविद्या को भली भाति समझा जा सकता है

स्व और स्वामी अर्थात् प्रकृति एव प्रकृतिजन्य जड़ बुद्धि के साथ प्रत्येक चेतन आत्म तत्व का संयोग हो जाने के कारण का निरूपण करते हुए सूत्रकार कहता है—

तस्य हेतुरविद्या (यो. द. 2.4) "अविद्या अर्थात् विषयासक्ति ऐश्वर्य भ्रम अभिमान यह है। बड़े-बड़े पाठान्तर करने से ही केवल विद्या उत्पन्न नहीं होती। पाठान्तर यह विद्या का साधन होगा। यथार्थ दर्शन ही विद्या है। यथा विहित ज्ञान विद्या है। प्रमा के विरुद्ध भ्रम है। विद्या मे भ्रम नहीं होता। 'अनात्मनि आत्म बुद्धि अशुचि पदार्थे शुचि-बुद्धिः' यह भ्रम है। यही "अविद्या" का लक्षण है और इसके विरुद्ध जो लक्षण हैं, वे विद्या के हैं।"

"जिस पुरुष को यह अभिमान होता है कि" मैं धनाढ्य हूं, व मैं बड़ा राजा हू। उसे अविद्या का दोष है। दूसरा शरीर का क्षीण रहना यह अविद्या के कारण ही होता है। इससे सब प्रकार की विद्या सम्पादन करने के विषय में प्रयत्न करते रहना चाहिये हमारे देश में छोटी अवस्था में विवाह करने की रीति के कारण विद्या सम्पादन करने मे अड़चन होती है, अपवित्र पदार्थ में पवित्रता मानना यह अविद्या है। ईश्वर का ध्यान, यह पूर्ण विद्या है। यह सारी विद्याओं का मूल है। किसी भी देश में इस विद्या का ह्रास न्यूनता होने से उस देश को दुर्दशा आ घेरती है।" (उपदेश मंजरी, तृतीय उपदेश)

इस सूत्र के विवेचन में स्वामी दयानन्द ने योग दर्शन प्रतिपादित अविद्या का निरूपण जहां आध्यात्मिक आधार पर किया है वहां अविद्याजन्य अभिमान अल्पायु मे विवाह हो जाने से शारीरिक क्षीणता आदि लौकिक दोषों का भी उल्लेख किया है। वस्तुतः इन समस्त कुरीतियों एवं बाह्याडम्बरों का कारण भी अविद्या ही है।

महर्षि दयानंद ने निज वाङ्मय में अविद्या का ऊहापोहपूर्वक विश्लेषण किया है। अविद्या के संबंध में वे लिखते हैं—"जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य अर्थात् जो कार्य जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है। अशुचि अर्थात् मलमय स्त्रिआदि के मिथ्या-भाषण, चोरी आदि अपवित्र में पवित्र बुद्धि द्वारा अत्यन्त विषय सेवन रूप दुःख में सुख बुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा में आत्मबुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है। इसके विपरीत अर्थात् अनित्य मे अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र दुःख में दुःख, सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा मे आत्मा का ज्ञान होना विद्या है। अर्थात् "वेत्ति यथावत् तत्वं पदार्थ स्वरूपं यया सा विद्या यया तत्वस्वरूप न जानाति, भ्रमादन्यस्मिनुन्यन्मिनिचनोति सा विद्या" जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे, वह "विद्या" और जिससे तत्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होने से वह अविद्या कहाती है।

उपर्युक्त वर्णन में स्वामी दयानन्द ने अविद्या के स्वरूप का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि अविद्या समस्त क्लेशों का मूल कारण

है जिससे जीवात्मा विपर्यय ज्ञान में फंसकर पुनः पुनः जन्ममरण के बंधन में बंध जाता है। अविद्या के कारण से ही यह अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश से अभिभूत रहता हे। उपासनायोग में यह प्रबल बाधक है। अतः योगी को अविद्या का स्वरूप भलीभाति समझ लेना चाहिए और अविद्या के त्याग तथा विद्या के उपार्जन में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। उन्होंने अविद्या के नाश करने और विद्या की अभिवृद्धि करने में विशेष बल दिया है अतः वे कहते हैं कि "अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।" अतः अविद्या का नाश अत्यन्तावश्यक है। क्योंकि जब आत्मा अविद्या से अभिभूत अविवेकी रहता है, उस दशा में वह अपने चेतन रूप तथा बुद्धि आदि प्राकृत जड़ पदार्थों में भिन्नता का अनुभव न करता हुआ उनको ही अपना रूप समझता है। इसी स्थिति का नाम अस्मिता है। क्रमप्राप्त अस्मिता का निरूपण करने के लिए स्वामी दयानंद योगदर्शन का अग्रिम सूत्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मे अवतरित किया है–

अस्मिता

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता (यो. द. 1.2 6)

"दूसरा क्लेश 'अस्मिता' कहाता है अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना, अभिमान और अहंकार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को अस्मिता जानना। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इसकी निवृत्ति हो जाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है।"

इस सूत्र में दृक् शक्ति द्रष्टा आत्मा है–चेतन-तत्व। दर्शनशक्ति देखने का साधन है–बुद्धितत्व जड़ प्राकृतिक अर्थात् प्रकृति का कार्य। इन दोनों की एकरूपता प्रतीत होना ही द्वितीय क्लेश "अस्मिता" है। पुरुष भोक्ता तथा बुद्धि भोग्या होने से दोनों अत्यन्त विभक्त हैं। आत्मा शुद्ध चेतन परिणामी तत्व है, इसके विपरीत बुद्धि तत्व अशुद्ध रागादि मलों का उत्पादक, जड़ तथा परिणामी है। इन दोनों की पारस्परिक विभिन्नता होने पर भी जिस अवस्था में इनकी सारूप्यता जैसी प्रतीत हो वह अस्मिता है। इसका कारण दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति को कौन जानता है।

मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर अस्मिता क्लेश भी निवृत्त हो जाता हे, क्योंकि विद्या से स्वरूप का ज्ञान होने से भोगों की निवृत्ति हो जाती है और पुरुष कैवल्य भाव को प्राप्त कर लेता है। अविद्या और अस्मिता में पारस्परिक भेद केवल इतना है कि अविद्या इस क्लेश में कारण होती है और अस्मिता उसका कार्य।

उपरोक्त सूत्र के स्वामी दयानंद के भाष्य से यही अभिव्यक्त होता है कि अभिमान और अहंकार से अपने आप को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार ही अस्मिता कहलाते हैं और जब सम्यक् विज्ञान अर्थात् विद्या से भी अभिमानादि बुद्धि के धर्मो का नाश हो जाता है जब अस्मिता क्लेशकी भी निवृत्ति हो जाती है और पुनः पुरुष

सद्गुणों के ग्रहण में अभिरुचि लेता हुआ कैवल्य भाव को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार पंचक्लेशान्तर्गत अविद्या और अस्मिता के स्वरूपादि का उल्लेख करके "राग" का व्याख्यान करने के लिए स्वामी दयानंद निम्नांकित सूत्र का अवतरण करते हैं--

राग

सुखानुशयी रागः (यो. द. 1.2.7) "राग" अर्थात् जो-जो सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं, उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है इसका नाम राग है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग, वियोग, संयोगवियोगान्त हैं अर्थात् वियोग के अंत में संयोग और संयोग के अंत में वियोग तथा बुद्धि के अंत में क्षय और क्षय के अंत में बुद्धि होती है, तब इसकी निवृत्ति हो जाती है।"

महर्षि दयानंद ने यहां सांसारिक भोगों से प्राप्त होने वाले सुख और संस्कारजनित तृष्णा से लोभादि के प्रति होने वाले आकर्षण को "राग" नाम से कहा है। और उसकी निवृत्ति के संबंध में कहा है कि संयोग और वियोग के वास्तविक ज्ञान हो जाने पर ही इसकी निवृत्ति होती है। वस्तुतः सुखजनक लुभावने विषयों की ओर तीव्र रूचि व आकर्षण होना ही राग है और जब तक विषयजन्य सुख का अनुभव नहीं होता, तब तक ऐसी भावना के उभरने की संभावना नहीं रहती। अतः राग सुख का अनुशायी अर्थात् अनुसरण करने वाला है, पीछे-पीछे चलने वाला है।

द्वेष

जब सुख व सुखसाधनों की प्राप्ति में कोई बाधा सामने आती है तो उनके प्रति द्वेष की भावना जागृत होती है।

दुःखानुशयी द्वेषः (यो. द. 1.2.8) चौथा क्लेश द्वेष कहाता है अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोध बुद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है। इसका अभिप्राय है कि जब व्यक्ति किन्हीं प्रतिकूलताओं के अर्थ का पूर्व अनुभव करता है अथवा उसे वे भोगना पड़ता है, तो उनके प्रति तथा उनके साधनों के प्रति क्रोध बुद्धि उत्पन्न होती है। इस प्रकार की प्रतिकूलताओं को भविष्य में न आने देने अथवा उन्हें नष्ट कर देने की जो भावना जागृत होती है वही द्वेष है। द्वेष क्योंकि राग के पश्चात् उत्पन्न होता है अतः इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति हो जाने के उपरांत ही होती है। इसकी निवृत्ति न होने पर व्यक्ति प्रतिघात प्रतिरोध व प्रतिकार की भावना से अनभीप्सित कार्य भी कर बैठता है जिसके लिये उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है। अतः उपासना-योग का आचरण करने वाले व्यक्ति को इस क्लेश से सर्वथा बचना चाहिये।

अभिनिवेश

अभिनिवेश क्लेश का पुनर्जन्म प्रकरण में व्याख्यान करने हेतु योगदर्शन का सूत्र उद्धृत करते हैं–

स्वरसवाहीविदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः (ऋ॰भा॰भू॰ में यो॰द॰ 1.3.9)

अभिनिवेश–पांचवां क्लेश है, जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बनें रहें अर्थात् कभी मरें नहीं, सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है। और इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है। क्योंकि छोटे-छोटे कृमि, चींटी आदि जीवों को भी मरण का भय बराबर बना रहता है। इसी से इस क्लेश को "अभिनिवेश" कहते है। जो कि विद्वान मूर्ख तथा क्षुद्र जन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है इस निवेश की निवृत्ति उस समय होगी जब जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग-वियोग को अनित्य जान लेगा। इन क्लेशों की शांति से जीवों को मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

योगशास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान है 'स्वरस' हर एक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि 'भूयांसमिति' अर्थात् मैं सदैव सुखि बना रहू, मरू नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि मैं न होऊं, ऐसी इच्छा पूवर्जन्म के अभाव में कभी नहीं हो सकती, यह "अभिनिवेश" क्लेश कहलाता है, जो कि कृमि पर्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है, यह व्यवहार पुनर्जन्म की सिद्धि को जानता है।"

इस सूत्र की विवेचना में महर्षि दयानंद ने "अभिनिवेश" क्लेश का व्याख्यान करते हुए पुनर्जन्म पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनका यह मन्तव्य है कि विवेकशील पुरुष को भी मूर्ख अर्थात् साधारण मनुष्य के ही समान वासना के बल से होने वाले मृत्युभय का ही नाम अभिनिवेश है। अतः उपासक को अविद्या आदि क्लेशो से विमुक्त होने का विशेष प्रयत्न करना अपेक्षित है।

इन क्लेशों का उपाय क्रियायोग अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान है। क्रियायोग से जब क्लेश सूक्ष्म होकर चित्तभूमि में विद्यमान रहते हैं तब समाधि के द्वारा उनका समूल उच्छेद हो जाता है। आत्मसाक्षात्कार की यह पूर्ण व सर्वोच्च अवस्था है, तब आत्मा के लिए किए जाने वाले अपने समस्त व्यापारों से चित्त विराम प्राप्त कर लेता है।

कैवल्य

योगदर्शन में हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय का चर्तुव्यूह प्रस्तुत किया गया है। अनागत दुःख हेय अर्थात् त्याज्य है, हेय का कारण प्रकृति और जीव का संयोग कारण सहित पूर्व प्रकरण में कह कर अब "हान" का कथन करते हैं–

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशे कैवल्यम् (यो. द. 1.2.25)

"जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं, तब जीव सब बंधनों और दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। (ऋ. भा. भू.) अर्थात् अविद्या, अविवेक अथवा अदर्शन के संयोग का अभाव हान है और वह हान ही चैतन्य स्वरूप आत्मा का कैवल्य है। अविद्या के लक्षण व स्वरूपादि का विवेचन पंच क्लेशों में कर दिया गया है। अदर्शन का अभिप्राय है—न देखना। अर्थात् चेतन आत्मतत्व का जड़ बुद्धि से सर्वथा भेद होते हुये भी, जड़चेतन के संयोग को जिस सम्बन्ध का कारण अविद्या है, को नहीं देख पाना। यह न देखना अर्थात् उस सयोग या सम्बन्ध का भेद ही अदर्शन है। यद्यपि आत्मतत्व और बुद्धि के भेद का साक्षात्कार उक्त संयोग के होने पर ही हो पाता है, इसलिए वह संयोग इस भेद दर्शन मे कारण रहता है, तथापि इस साक्षात् भेददर्शन के अन्य निमित्त भी रहते हैं प्रणव की विधिपूर्वक उपासना, यम-नियम, आदि का निष्ठापूर्वक पालन एवं परम वैराग्य का जागृत रहना आदि। इन सब निमित्तों के सहयोग द्वारा भेद दर्शन से "अदर्शन" ध्वस्त हो जाता है। तब आत्मबुद्धि संयोग का अस्तित्व भी नहीं रहता। अदर्शन ही संयोग का आधार है। दर्शन अदर्शन के लुप्त हो जाने पर वह आधार अनायास ही समाप्त हो जाता है। चित्तवृत्ति के उद्‌भव की परम्परा भी समाप्त हो जाती है उसका पुनः क्रम भी चालू नहीं रहता। इसी स्थिति का नाम मोक्ष कहा जाता है।

महर्षि दयानंद ने विद्यादि शुभगुणों से संपृक्त होकर समस्त बंधनों और दु.खो से छूट जाने को ही मोक्ष कहा है। हान का अर्थ ही छूटना अर्थात् बंधनों एवं दु.खो से निर्मुक्त होना है। अत्यन्त दुःखों से निवृत्ति ही हान है। इस प्रसंग में महर्षि दयानद अत्यन्त शब्द का व्याख्यान करते हुये लिखते हैं—"यह आवश्यक नहीं कि "अत्यन्त" शब्द अत्यन्ताभाव ही का नाम होवे। "जैसे अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुखं चास्य वर्तते" बहुत सुख इस मनुष्य को है। इससे यही विदित होता है कि इसको बहुत सुख वा बहुत दुःख हैं। इसी प्रकार यहां भी अत्यन्त शब्द का अर्थ जानना चाहिए। अत: अविद्या के निवृत्त होने से जो चित्त वृत्ति और पुरुष के संयोग की निवृत्ति होती है वह हान और द्रष्टा पुरुष का सत्वादि गुणों से पृथक् होना कैवल्य है। उस कैवल्य को प्राप्त करने, एवं विवेकख्याति के फल का निरूपण करते हुये सूत्रकार लिखता है—

तद्वैराग्यादपि दोष बीजक्षये कैवल्यम् (यो. द. 3.50)

शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है, उसके नाश करने के लिए यथावत् प्रयत्न करें, क्योंकि उसके नाश के बिना मोक्ष कभी नहीं हो सकता। इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि जड़ एवं प्राकृत तत्व और परिणामी होने से त्याज्य है तथा जीवात्मा चेतन, अपरिणामी और बुद्धि तत्व से सर्वथा भिन्न है। यही भावना उसे उन्नतावस्था में ले जाती है। जिससे वह यह समझता है कि उक्त विवेक ज्ञान बुद्धि का परिणाम है। आत्मा का स्वरूप नहीं तब वह केवल

स्व-स्वरूप में अवस्थित हो जाने के लिए उस विवेकख्याति से विरक्त हो जाता है। यह अवस्था परवैराग्य कहलाती है। इस अवस्था में क्लेशों के बीज अविद्या आदि एवं उनके सस्कार अर्थात् दोष बीज सब दग्ध होकर चित्त के साथ क्षीण हो जाते हैं तब आत्मा वैषयिक दृश्यों के शून्य हो जाने एवं त्रिगुणों से सम्पर्क न रहने पर अकेला रह जाता है। जिसे "कैवल्य" कहा जाता है। अतः वैराग्य से दोष बीजों का क्षय होने पर "कैवल्य" होता है।

उपरोक्त सूत्र के व्याख्यान में व्यासमुनि ने यह व्यक्त किया है कि मोक्ष मे भौतिक मन का अपने कारण में लय हो जाता है। इसी तथ्य को स्पष्टतया अभिव्यक्त करते हुए स्वामी दयानंद सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं—

"प्रायः पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि, इन सत्रह तत्वों का समुदाय सूक्ष्म शरीर कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्म मरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं—एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्मभूतों के अंशों से बना है, दूसरा स्वाभाविक, जो जीव के स्वाभाविक रूप हैं। वस्तुतः कैवल्यावस्था में चित्त पुरुषो के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन के सिद्ध होने से स्वकारण में लीन हो जाता है और अनादि काल से चित्तस्थ अविद्यादि क्लेशों के बीज अर्थात् कारणभूत वासनाएं दग्धबीज की भाति फलोन्मुख होने में सर्वथा असमर्थ हो जाती हैं चित्त (मन) के साथ ही कारण मे लीन हो जाती हैं। इस अवस्था में जीवात्मा केवल स्व में प्रतिष्ठित्त होकर मोक्ष में स्थित हो जाता है। मोक्ष में भौतिक इन्द्रियादि जीवात्मा के साथ नहीं रहती है—इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए स्वामी दयानंद लिखते हैं—

"मोक्ष में भौतिक शरीर व इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जैसे शरीर के आधार रहकर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।" (स. प्र. समु. 9)

यहां स्वामी दयानन्द ने यह कहा कि मोक्षावस्था में जीवात्मा अपने शुद्ध गुणो एव अपनी शक्ति से समस्त आनन्दों का उपभोग करता है। यहां समस्त संतापों और साधनों का वर्णन करने के पश्चात् सूत्रकार कैवल्य के प्रकरण का उपसंहार करता हुआ कहता है—

सत्वपुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति (यो. द. 3.55)

"सत्व जो बुद्धि, पुरुष जो जीव, इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं। यहां सत्व शब्द बुद्धि और पुरुष शब्द जीवात्मा के लिए प्रयुक्त है। आत्मा नित्य, शुद्ध स्वभाव और चेतन है। चित्त प्रकृति का कार्य होने से त्रिगुणात्मक है तथा रजस् तमस्, गुणों की प्रधानता से मलिन रहता है। योगाभ्यास के अंतिम स्तर पर जब योगी के चित्त में उपरोक्त दोनों गुण क्षीण हो जाते हैं, तब सत्व का प्राधान्य होने पर चित्त शुद्ध सा हो जाता है। अर्थात् सात्विक चित्त के सहाय से आत्मा को अपना साक्षात्कार

बोध हो जाता है। इसका अभिप्राय है कि कैवल्य की प्राप्ति विवेक ज्ञान-प्रकृति पुरुष का भेदज्ञान होने पर होती है अतः अष्टांगयोग के सुदृढ अनुष्ठान के साथ ईश्वरप्रणिधान, प्रणव जप आदि इसके आवश्यक साधन हैं। मोक्षावस्था में जब आत्मा अपने शुद्ध, पवित्र, अपरिणामी और चैतन्य स्वरूप का साक्षात्कार कर आनंद प्राप्त करता है तब चित्त की क्या दशा होती है? इस पर सूत्रकार कहता है–

तदा विवेक निम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् (यो. द. 4.26)

"जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है, तब कैवल्य मोक्ष धर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है, तब तक उसको मुक्ति प्राप्त होना असंभव है, इसका आशय हे कि अज्ञान के कारण जिस चित्त का विषयों की ओर प्रवाह था विवेक ज्ञान के उदय होने से उसी चित्त का प्रवाह मोक्ष की ओर हो जाता है, चित्त, आत्मा के प्रकृति विनिर्मुक्त शुद्ध रूप को साक्षात् कर लेने की भावना के प्रवाह से परिपूर्ण रहता है। चित्त की यह अवस्था होने पर ही जीवात्मा मुक्त कहलाता है। कैवल्य के स्वरूप, आत्मा के आनंद की और चित्त की दशाआदि इस प्रकरण के समापन पर पुन कैवल्य का स्वरूप बताते हुए (यो. द. 4.34) लिखा है–

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति

कैवल्य मोक्ष का लक्षण यह है कि "कारण के सत्व, रज और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर, आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके, स्वरूप प्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्व है वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से मुक्त होके, शुद्ध स्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य आनंद में जो रहना है, उसी को कैवल्य मोक्ष कहते हैं।" (ऋ. भा. भू.) इसका आशय है कि पुरुषार्थ से रहित बुद्धि आदि द्वारा परिणत गुणों का अपने कारण में लय होने को कैवल्य कहते हैं अथवा अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठारूप चेतनस्वरूप पुरुष की बुद्धि के संबंध से रहित होकर अपने स्वरूप में स्थित होना मोक्ष है।

यहां "प्रतिप्रसव" और "स्वरूपप्रतिष्ठा" दो पद विचारणीय हैं। जब व्युत्थान समाधि तथा निरोध के संस्कार चित्त में लीन हो जाते हैं तब चित्त का अहंकार मे अहकार का महत्तत्व में तथा महत्तत्त्व का प्रकृति में लय होना "प्रतिप्रसव" कहलाता हे और जब चेतनस्वरूप पुरुष का बुद्धि के साथ संबंध नहीं रहता तब उसकी ओर अपने स्वरूप में स्थिति को स्वरूपप्रतिष्ठा कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कार्यकारण भाव को प्राप्त हुए तीनों गुण पुरुष के लिए भोग व मोक्ष का संपादन करने के लिए अनन्तर अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं। उनका अपने-अपने कारण में लयरूप प्रतिप्रसव द्वारा लिंग शरीर के अंग हो जाने का नाम कैवल्य है।

इस प्रकार चेतन आत्म तत्व का प्रकृति एवं प्राकृत महत् आदि पदार्थों से कोई सबंध नहीं रहता। योग के सर्वोत्कृष्ट स्तर पर पहुंच जाने पर योगी के चित्त की व्युत्थान वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं, तथा व्युत्थान, समाधि, और निरोध के संस्कार–चित्तव्यापार

के रुद्ध हो ज्ञान से चित्त (मन) मे लीन हो जाते हे मन अपने कारण अस्मिता मे अस्मिता (अहंकार) बुद्धि (महत्तत्वा) में और बुद्धि मूल उपादान प्रकृति में लीन हो जाती है और वह पुरुप गुणों के सम्पर्क से अलग होकर स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। तब आत्मा अपने नैसर्गिक सामर्थ्य से योग-समाधि द्वारा अभिव्यक्त होकर आनदस्वरूप परमात्मा में सम्बद्ध होकर उस दिव्यानंद का अनुभव किया करता है। यही 'कवल्य" है। यही है वैदिक उपासना।

इस प्रकार महर्पि दयानन्द में अपने साहित्य में ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना, मुक्ति आर युक्ति के साधन आदि योग साधना विपयक मार्ग प्रशस्त किया हैं जिस पर श्रेष्ठ एव ज्ञानी तथा अनुभवी योगी के कुशल मार्गदर्शन में साधना करके उपासक अपने उपास्य परमेश्वर का साक्षात्कार करने में सफल हो जाता है। इति शम्।

❑❑❑